संपादनः
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

सह संपादकः
माधव केलकर
दीपक वर्मा

चित्रांकनः
विप्लव शशि

सहयोगः
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव
महेश बसेड़िया

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-15, जनवरी-फरवरी 1997

संपादन एवं वितरणः
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोनः 07574-53518

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 35 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठः कुछ जीव तो ऐसे कि खूब भड़कीला रंग। और कुछ ऐसे कि अगर किसी पेड़, पत्ती या घास आदि के बीच बैठ जाएं तो उन्हें ढूंढना ही मुश्किल हो जाए। ऐसे ही एक *मोथ* का फोटो – जो अपने आसपास के वातावरण के रंगों में बिल्कुल घुलमिल गया है। छोटे चित्र में वही मोथ दूसरे परिवेश में। जीवों के रंगों की इसी गुत्थी के बारे में और जानकारी पृष्ठ 13 पर।

पिछला आवरणः पृथ्वी की ऊपरी सतह बहुत-सी प्लेटो में बंटी हुई है। आमतौर पर प्लेटों की सीमाएं समुद्र के अंदर होती हैं इसलिए हमें उन सीमाओं पर बनी हुई पहाड़ियां (रिज) दिखाई नहीं देतीं। परन्तु आइसलैंड 'अटलांटिक रिज' के ठीक ऊपर बसा हुआ है। रिज की 'दरार घाटी' की तरह एक दरार घाटी आइसलैंड को दो भागों में बांटती है। इसलिए एक आम इंसान के लिए भी यहां प्लेट टेक्टोनिक्स थ्योरी को जांचना आसान है। बस, दरार के दोनों ओर एक पाइप लगा दीजिए और समय-समय पर उनके बीच की दूरी का अवलोकन करते रहिए। पाइप को थामे खड़ी बच्ची के लिए बस एक छोटी-सी कुदान – कभी उसे अमेरिकी प्लेट (दाहिनी वाली), तो कभी यूरोपियन प्लेट (बाईं वाली) पर पहुंचा सकती है। क्या मज़ा! प्लेट टेक्टोनिक्स थ्योरी का दूसरा भाग पृष्ठ 31 पर।

इस अंक में इन किताबों से चित्र लिए गए हैं (साभार): *बायोलॉजिकल साइंसेज़* लेखक: विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड, प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क; *एनिमल बिहेवियर* लेखक: जॉन एलकॉक, प्रकाशक: सिन्योर एसोसिएट्स इन्क., मेसेचुसेट्स; *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ एनिमल वर्ल्ड* प्रकाशक: बे बुक्स, सिडनी; *होल्म्स प्रिंसिपल्स ऑफ फिज़िकल जिओलॉजी* प्रकाशक: चैपमेन एंड हॉल, लंदन (इंग्लिश लैंग्वेज बुक सोसाएटी के सहयोग से); *द रेस्टलेस अर्थ* लेखक: निगेल काल्डर प्रकाशक: पेंग्विन बुक्स; *द मार्शल कैवेंडिश इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ प्लान्टस एंड अर्थ साइन्सेज़* प्रकाशक: मार्शल कैवेंडिश, न्यूयॉर्क; *हेल्थ एंड डिसीज़ेज़* प्रकाशक: टाइम लाइफ बुक्स, हांगकांग; *हाउ एनिम्लस बीहेव* नेशनल ज्योग्रोफिक सोसायटी।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित

शिकारी से बचने की कोशिश में...... 13

कुछ जीवों के ऐसे रंग होते हैं कि किसी पेड़ के तने पर बैठ जाएं तो उन्हें ढूंढना मुश्किल, वहीं कुछ जीव ऐसे कि कहीं भी रहें अपने चमकदार रंगों के कारण दूर से ही पहचान लिए जाएंगे। रंगों का यह फर्क कीट-समुदाय में तो खासतौर से काफी स्पष्ट है। जब अवलोकन और प्रयोग हुए तो मालूम पड़ा, शिकारी से बचने के लिए जीवों में जो सुरक्षा के तरीके विकसित हुए हैं उनमें से एक यह भी है। मोनार्क तितली के उदाहरण के साथ इसी पहलू की छानबीन
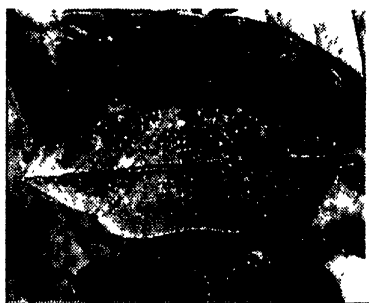
भूकंप, ज्वालामुखी और प्लेट........... 31

यूं तो भूकंप और ज्वालामुखी कहीं भी हो सकते हैं; लेकिन अधिकतर ये कुछ सीमित दायरों में लगातार अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहते हैं। ये दायरे प्लेट की सीमाएं चिह्नित करते हैं। पिछले अंक से जारी 'प्लेट टेक्टोनिक्स' का दूसरा भाग जिसमें प्लेट के गुणों के साथ-साथ सुपर महाद्वीप 'पेंजिआ' के टूटन की चर्चा की गई है। यह सुपर पेंजिआ करीब 20 करोड़ साल पहले अस्तित्व में था। भारत, जो आज भूमध्य रेखा के उत्तर में है उस समय नीचे अंटार्कटिका के पास पड़ा हुआ था।
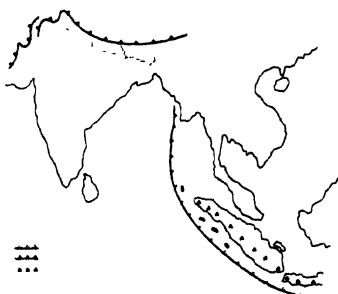
खोज: प्लेग के जीवाणु और उसके फैलने के तरीके की........... 57

इतिहास गवाह है कि इंसान बीती सदियों में किसी और बीमारी से इतना भयभीत नहीं रहा है जितना कि प्लेग से। जब यह फैलता था तो शहर-के-शहर उजाड़ देता था। बहुत कम लोगों को ही मालूम होगा कि इसके जीवाणु – और यह कैसे एक से दूसरे तक फैलता है – की खोज से जुड़े शोध की कड़ी भारत से भी जुड़ी हुई है। इसी शोध और उससे जुड़े वैज्ञानिकों का जीवंत वर्णन।

इस अंक में

आपने लिखा

संदर्भ के अंकों का अध्ययन जारी है। अभी-अभी अंक-13 पढ़ा। सभी रचनाएं प्रभावी हैं। बंकर में जीवन एक रोचक अनुभव गाथा थी। संभवतः इसी तरह के या इससे कुछ भिन्न अनुभव अंतरिक्ष यात्रियों के एकांकीपन में भी होते होंगे।

इसी अंक में रमाकांत अग्निहोत्री के लेख में भाषा और बोली के बीच बताए जाने वाले सामान्य अंतर को मिटाने की भरपूर कोशिश की गई है, परन्तु लेख में यह नहीं बताया गया कि दरअसल 'बोली' शब्द का आरम्भ कैसे हुआ। यदि अवधी-ब्रज बोली नहीं हैं तो फिर किसे बोली और किसे भाषा कहा जाता है? संभवतः बोलने वालों की संख्या को ही मापदंड बनाकर कुछ को भाषा और कुछ को बोली कहा जाने लगा होगा। वास्तव में भाषा-विज्ञान या व्याकरण को मापदंड बनाकर यह विभाजन किया ही नहीं गया है। कम-से-कम पूरे मध्यप्रदेश में तो यह माना जाता है कि यहां खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता है लेकिन मध्यप्रदेश के ही एक क्षेत्र छत्तीसगढ़ में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसके बोलने वालों की संख्या प्रादेशिक स्तर पर मापी जाए तो काफी कम होगी, तो इसे भाषा कहेंगे या बोली?

पंजाबी पूरे प्रादेशिक स्तर पर ही बोली जाती है और उसे भाषा का ही दर्ज़ा दिया गया है। मैं नहीं समझता कि पंजाबी, मैथिली, ब्रज और अवधी — इनको बोलने वालों की संख्या को हिन्दी बोलने वालों की संख्या में शामिल किया गया होगा। वास्तव में होता यह है कि पंजाबी जानने वाला भी हिन्दी (खड़ी हिन्दी) अच्छी तरह से जानता है तथा उसका प्रयोग करता है। ब्रजभाषा तथा मैथिली जानने वाला हिन्दी भी अच्छी तरह जानता है। कहने का तात्पर्य यह कि अधिकांश व्यक्ति अपनी मातृभाषा या बोली जानने के साथ-साथ हिन्दी भी जानते हैं। इस तरह हिन्दी बोलने वालों का संसार विस्तृत नज़र आता है। व्यावहारिक तौर पर भी हम यही देखते हैं कि दो ही भाषाएं व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रही हैं — हिन्दी और अंग्रेज़ी।

लेख के अंत में अग्निहोत्री जी का यह कथन कि — "हिन्दी को मानकीकृत भाषा का दर्ज़ा देने के लिए ब्रज और अवधी को उसकी बोलियां बनाने का प्रयास हो रहा है।" — यह मुझे ठीक नहीं लगा। हां यह अवश्य है कि हिन्दी के प्रयोग हेतु लोगों को प्रेरित किया जा रहा है और भविष्य में हिन्दी ही व्यापक तौर पर प्रयोग की जाएगी। क्या अंग्रेज़ी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए कोई योजनाबद्ध प्रयास किया गया था? परन्तु आज अंग्रेज़ी सभी देशों में घुसती जा रही है।

संदर्भ के अंक-12 में साधना जी के लेख का शीर्षक था — "गुम होती बोलियां" यहां बोलियों से उनका क्या आशय था? क्या भाषा और बोली ये

दोनों शब्द समानार्थी हैं या भिन्न अर्थ रखते हैं? वैसे उस लेख में शुरू से ही उनका हिन्दी के प्रति पूर्वाग्रह स्पष्ट झलक रहा था। लेख में उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न 'हिन्दी ही क्यों और कौन-सी वाली हिन्दी' मुझे समझ में नहीं आया। जहां तक मैं समझता हूं कि जब भी हम हिन्दी की बात करते हैं तो जिस लिपि/भाषा में मैं पत्र लिख रहा हूं, जिसमें संदर्भ छपती है, उसी भाषा से हमारा आशय होता है।

दरअसल इन हिन्दी विरोधी लेखकों की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी में होती है तथा इन्हें मातृभाषा का लगाव जिनका ज़िक्र वे लेख में करते हैं होता ही नहीं। अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए इन्हें अंग्रेज़ी में छपी पुस्तकों या अंग्रेज़ी लेखकों के विचारों की सहायता लेनी पड़ती है। लेख के अंत में लिखना पड़ता है कि इस लेख की अधिकतर तथ्यात्मक जानकारी अमुक-अमुक अंग्रेज़ी किताबों से ली गई है।

संदर्भ के लगातार दो अंकों में आपने भाषा से संबंधित लेख प्रकाशित किए हैं जिनमें कुछ ऐसा आशय झलकता है कि *'हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों बनाया जा रहा है'* मुझे लगता है कि कहीं संदर्भ ज्ञान-विज्ञान की जानकारी देने के बदले किसी भाषाई विवाद को जन्म न देने लगे। आपका उद्देश्य हिन्दी की पैरवी करना या उसका विरोध करना कतई नहीं है। ज्ञान के और भी पहलू अछूते पड़े हैं जिन्हें आपको लोगों तक पहुंचाना है।

संदर्भ में रसायन विज्ञान से संबंधित लेख अधिकतर होते हैं लेकिन भौतिकी तथा गणित से संबंधित लेख कम। 'आयनिक बंध और परमाणु' तथा 'सहबंधन यानी इलेक्ट्रॉन की साझेदारी' ये दोनों लेख (अंक 12-13) अन्य विषयों के शिक्षकों के लिए क्लिष्ट ही साबित हुए हैं।

गणित के विषय में सुनते हैं कि भारत के रामानुजन ने बहुत ही जटिल प्रमेयों को निष्कर्ष रूप में लिख दिया था, जिन्हें अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। गणितज्ञों के ऐसे निष्कर्षों को संदर्भ में प्रकाशित कीजिए ताकि गणित के शिक्षक उन्हें जान सकें। ये शायद 'रामानुजन प्रॉबल्म्स' के नाम से जाने जाते हैं।

अंक 12 में नूतन झा के लेख 'द्वंद्व से शिक्षा' के अंत में उनका परिचय 'दिल्ली में रहती हैं' छपा होना काफी अटपटा-सा लगा। क्या दिल्ली में रहना कोई उपलब्धि है, या आपने लेख इसलिए छापा कि वे दिल्ली में रहती हैं? निश्चय ही व्यावहारिक क्षेत्र में उनकी और भी उपलब्धियां होंगी।

अंक 13 में 'क्यों छोड़ा स्कूल ओटा ने . . ' में उठाया गया प्रश्न सोचने को बाध्य करता है। भौतिक, गणित जैसे कठिन विषयों को सीखने के बाद व्यक्ति नौकरी लगने पर सभी कुछ भूल जाता है। भारतीय शिक्षा जगत में शिक्षक ज्यों – ज्यों उम्रदराज़ होता जाता है वह अपने विषय का विशेषज्ञ बनने की बजाए

अकर्मण्यता-अज्ञानता की ओर बढ़ता जाता है। क्यों नहीं वह नए कोर्स पढ़ा पाता, जबकि कोर्स में मामूली-सा फेरबदल किया गया हो?

खैर, कुछ भी हो संदर्भ अपने पाठकों को सोच-विचार के लिए प्रेरित करती है। शायद ऐसी गिनी-चुनी किताबें होंगी जिनको पढ़ने के बाद पाठक कुछ सोचने के लिए समय देता होगा।

दिलीप झा
शास. उच्च. माध्य. विद्यालय
तामासिवनी, रायपुर, म. प्र.

तेरहवें अंक में 'कौन भाषा, कौन बोली' लेख पढ़ते समय ऐसा बार-बार लगा कि 'गुम होती बोलियां' (अंक - 12) वाले लेख को ही दुहराया जा रहा है।

रमाकांत जी और साधना जी के लेखों में बोलियों को बचाने की गुहार पढ़कर लगता है कि दिल्ली के बुद्धिजीवियों ने एक नया चोला पहन लिया है। कुछ साल पहले दिल्ली विश्वविद्यालय और जे. एन. यू. की एक बड़ी लॉबी हिन्दी विरोधी और अंग्रेज़ी को समर्थन देने वाले लेख लिखती थी और वक्तव्य देती थी। उन दिनों यही फैशन चल रहा था। लेकिन पिछले दस सालों में दिल्ली विश्वविद्यालय और जे. एन. यू. के कुछ बुद्धिजीवी – स्थानीय इतिहास, लोक-कला, लोक-संस्कृति वगैरह को बचाने की अपील करने लगे हैं। शायद इसी फैशन के चलते बोलियों को बचाने की बात भी की जा रही है। फिर पुराना हिन्दी विरोधी रुख भी बरकरार है। इसलिए इन लेखों में यह दिखाने की कोशिश हो रही है कि हिन्दी भाषा ही बोलियों को निगल रही है। इस पत्र के माध्यम से मैं उक्त दोनों लेखकों से यह कहना चाहता हूं कि आज की उपभोक्ता संस्कृति में वही भाषा अहम् भूमिका निभाएगी, जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी। घर-परिवार में इस्तेमाल होने वाली बोलियां तो अब ऐसी अहम् भूमिका निभाने में असमर्थ हैं। यहां तक कि कुछ भाषाएं भी हाशिए में जाने वाली हैं। इसलिए इस कटु सत्य को स्वीकार करते हुए हमारे 'बोली प्रेमी' लेखक घड़ियाली आंसू न बहाएं यही अच्छा रहेगा।

डॉ. आर. सबरवाल
जार्ज टाऊन, इलाहबाद, उ. प्र.

बच्चों की भाषा चिंतन का विषय है, उनकी भाषा तो परिवेश से बनती है। अगर उसे सुनने मिलेगा 'महेस' तो वह उसे अपनाएगा ही। परेशानी यह है कि उसके सामने भाषा को तोड़-मरोड़कर उसके बचपन से ही पेश किया जाता रहा है। क्या ज़रूरत है कि 'मेला प्याला-प्याला बेटा दुदु पियेगा' या ऐसा ही कुछ कहने की? और फिर वह ऐसा कुछ कहता है तो उस पर हंसा जाता है या ऐसा दुहराने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यदि हम बच्चे पर हंसते हैं तो वह बेचारा फिर असमंजस में पड़ जाता है

कि उससे गलती कहां हुई? अब रही बात स्कूल की, तो शिक्षण कार्य तो उसे ही करना चाहिए जिसकी वास्तव में इस काम में रुचि हो।

बच्चों के उच्चारण संबंधी सुधार हेतु इस तरीके को अपनाया जाए तो कैसा रहे? जैसे बच्चा 'श' को 'स' कहता है तो उससे संबंधित छोटे वाक्य बुलवाइए। बोर्ड पर कुछ चित्र बने हों जैसे गेंद, गिलास आदि। फिर बच्चों से पढ़वाइए – यह दिनेश या रमेश की गेंद है।

संदर्भ के अंक-14 में धरती का घूमना रोचक रहा तथा नए बनते समुद्र में पृथ्वी के चुंबकीय ध्रुवों के पलटने की नई जानकारी छात्रों के बहुत काम आई। क्या *बच्चों के बहाने* कुछ अधूरे से नहीं लगे?

इसी तरह एक शाम जब जादूगर ने हमारे छात्रों के साथ गुज़ारी तो आक्टोपस और गुबरेले द्वारा भोजन परोसने पर उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी पर उन्हें बहुत मज़ा आया। कुछ ऐसी ही कहानी उन्होंने भी बना डाली। और अंत में एक बात मैं जानना चाहती हूं कि कैल्शियम कार्बाइड का सूत्र CaC_2 क्यों होता है? मुझे यह जानकारी छात्रों को देनी है।

कविता शर्मा
सरस्वती विद्या मंदिर, हरदा

नया अंक पढ़ा। 'कैसे बनेगा सहबंध' और 'समुद्र का फैलना. . . ' काफी रोचक व ज्ञानवर्धक लेख लगे। आमोद जी ने प्लेट टेक्टोनिक्स पर काफी परिश्रम किया, उन्हें साधुवाद।

सुशील जी के लेख का विषय काफी जटिल था, संभवत: इसी कारण अभिव्यक्ति भी उलझी और उबाऊ हो जाती है। इसमें लेखक का दोष नहीं है। परमाणु संबंधी संकल्पनाएं और जानकारियां, निष्कर्ष और सिद्धांत जितनी स्पष्टता के साथ समझे जाएंगे, उन्हें उतनी ही सहजता के साथ अभिव्यक्त किया जा सकता है। यद्यपि लेखक ने गणितीय अवधारणाओं से बचने की कोशिश की लेकिन लगता है कि बिना गणित के इस विषय को समझना संभव नहीं है। बहरहाल परमाणु संबंधी अनेक बातें फिर भी स्पष्ट होती हैं तथा इस विषय पर पढ़ने-समझने की जिज्ञासा तो जागती ही है।

वाकई संदर्भ एक हिन्दी विज्ञान-पत्रिका के रूप में उभर रही है।

मनोहर बिल्लोरे
अधारताल, जबलपुर, म. प्र.

एक बार मेरे एक पैर में भी नींद आ गई थी। मैं अपने एक पैर पर दूसरा पैर बड़ी देर तक चढ़ाए बैठा रह गया था। जब अचानक उठा तो दूसरे ही क्षण मुझे बैठना पड़ गया क्योंकि उस पैर में ज़ोरों से झनझनाहट होने लगी थी। सवालीराम ने इस सामान्य घटना पर वैज्ञानिक समाधान बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत किया है।

मनीष मोहन गोरे,
स्टेशन रोड, देवरिया, उ. प्र.

मैं प्राथमिक विद्यालय की एक शिक्षिका हूं और ऐसे स्थान पर अध्यापन कार्य कर रही हूं जहां अशिक्षित परिवारों से बच्चे पढ़ने आते हैं। इनका जीवन स्तर बहुत निम्न है। प्राथमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों को सभी विषय पढ़ाने होते हैं। विज्ञान की विद्यार्थी न होने के कारण मुझे इस विषय का गहन ज्ञान नहीं रहा अतः समय-समय पर अपनी शिक्षण समस्याएं दूसरे लोगों के समक्ष रखीं। मेरे भाई — जो पहले टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च में थे — ने मुझे संदर्भ पत्रिका के बारे में बताया और इसका सदस्य बनाया।

मैं चाहती थी कि मुझे कुछ ऐसी विषय-वस्तु प्राप्त हो जिससे मैं बच्चों के स्तर पर विज्ञान को रुचिकर तरीके से पढ़ा सकूं। बच्चों के लिए प्राथमिक स्तर पर कुछ ऐसी क्रियाएं करवाऊं जिससे उनमें विषय में रुचि बढ़े और सीखना सुगम हो सके। संदर्भ में, प्राथमिक कक्षाओं और उन अध्यापकों को, जिनका विषय विज्ञान नहीं रहा हो, ध्यान में रखकर लेख लिखे जाएं तो उत्तम होगा। (इन लेखों में विज्ञान संबंधी क्रियाएं जिन्हें बच्चे स्वयं करें, मॉडल जिन्हें परिवेश में उपलब्ध सामग्री से बनाया जा सके तथा शिक्षकों के लिए स्पष्ट निर्देश हों।) विज्ञान के खेल व वैज्ञानिकों के खोज संबंधी रुचिकर लेखों को भी पत्रिका में स्थान दिया जाए।

मंजुला,
फरीदाबाद, हरियाणा

चौदहवां अंक पढ़ा तो खत लिखे बिना न रहा गया। बहुत पहले मेरे मन में यह बात उठती रही है कि संदर्भ श्रेष्ठ शैक्षिक पत्रिका है लेकिन फिर भी इसमें उन सूक्ष्म त्रुटियों का अनुभव क्यों नहीं किया जा रहा है जिससे हमारी ही भूल, बच्चों की भूल का कारण बन जाती है। बाद में यही भूल आदत बन जाती है।

मेरे इस सवाल का जवाब रश्मि पालीवाल के लेख 'बच्चों की भाषा' में स्पष्ट रूप से उभरकर आया कि हम हाथी को हांथी, सफेद को शफेद, और परीक्षा को परिक्षा बोलते हैं तो बच्चों से यह उम्मीद क्यों करते हैं कि वे हांथी को हाथी लिखें। लेखिका का यह तथ्य तर्कसंगत है, जो हमें शिक्षण के प्रति हमारी निष्ठा व उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है। उन्हें बधाई। आशा है संदर्भ में आगे भी ऐसी ही सामग्री पढ़ने को मिलती रहेगी।

सवालीराम का उत्तर अच्छा था लेकिन लंबा हो गया। 'एक जीवनी की तलाश में' में जिस ज्ञान मार्ग की स्तुति की गई है उसमें राम नाम की महिमा का वर्णन भ्रमात्मक है क्योंकि कबीर तो निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास रखते थे फिर सगुण देवत्व की स्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन फिर भी उक्त लेख जीवनी के महत्वपूर्ण तथ्यों से सजा होने के कारण प्रभावशाली बन पड़ा।

राजेश मुदाफल,
अंबा उ. मा. वि. आष्टा,
ज़िला बैतूल, म. प्र.

एक प्रयोग से उपजी बहस

***सामाजिक** उद्देश्यों से प्रेरित स्वयंसेवी संगठनों द्वारा औपचारिक शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम, पुस्तकें आदि तैयार करना एक दुर्लभ बात है। शायद एकाध ही ऐसी मिसाल होगी। उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र द्वारा कक्षा 6 से 10 के लिए तैयार किया गया पर्यावरण अध्ययन पाठ्यक्रम और पुस्तकें इन दुर्लभ मिसालों में से एक है। अपने ही गांव के पर्यावरण – घास, पानी के स्रोत, पेड़, मिट्टी, फसल, आदि और अपने ही घर की पानी की ज़रूरत, ईंधन की ज़रूरत, कूड़ा और गंदे पानी का उपयोग.... इन सब का व्यवस्थित अध्ययन और उनसे संबंधित समस्याओं के निदान हेतु स्कूल के छात्रों द्वारा पहल करवाना इस देश की शिक्षण प्रणाली में एक अनूठा कदम है। ज़ाहिर है कि हर ऐसे ठोस काम से कई विवाद और बहस छिड़ती हैं। कुछ हद तक ये बहस काम के विकास के लिए उपयोगी और आवश्यक भी हैं। पिछले अंक में श्री दुनू रॉय ने इन पुस्तकों की समीक्षा की थी। उन्होंने इस प्रयास की सराहना करते हुए बहस के कुछ मुद्दे भी छेड़े थे। जवाब में पुस्तकों के लेखक श्री एम.जी. जैक्सन और उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र के डॉ. ललित पाण्डे ने अपनी प्रतिक्रियाएं दी हैं। आशा है कि अन्य पाठक भी अपने अनुभव और विचारों से इस बहस को आगे बढ़ाएंगे।*

संपादक मंडल

पर्यावरण अध्ययन: समीक्षा और उसके जवाब में. . .

आपकी पत्रिका के सितंबर-अक्टूबर के अंक में दुनू रॉय द्वारा हमारी पर्यावरण अध्ययन कार्य-पुस्तिकाओं पर प्रस्तुत समीक्षा 'पर्यावरण शिक्षा और आजीविका' के संबंध में मैं कुछ कहना चाहता हूं।

श्री राय का यह मानना है कि यह पाठ्यक्रम एक 'परजीवी विकास' को बढ़ावा देता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य किसी भी कीमत पर उत्पादन को बढ़ाना है और जिसके लिए प्रकृति और तमाम मानवीय मूल्य और रिश्ते ताक में रखे जाते हैं। ऐसे 'विकास' के उदाहरण स्वरूप उनके मन में शायद शासकीय व्यापारिक वनीकरण, पर्यावरण विनाशकारी उत्खनन, प्रदूषक उद्योग, रसायनिक खेती ('हरित क्रांति') आदि रहे होंगे। निश्चय ही ये सब पर्यावरण और ग्रामीण समुदाय की कीमत पर बढ़ते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारे पाठ्यक्रम में भूमि की उत्पादकता बढ़ाने पर काफी ज़ोर दिया गया है, ताकि लोगों की मूलभूत ज़रूरतें जैसे भोजन, जलावन और पानी पूरी हो पाएं। लेकिन साथ ही हमने छात्रों को ऐसी विधियों के बारे में भी सिखाया है जिससे उत्पादन में स्थाईत्व (अक्षयता) भी रहे और स्थानीय पर्यावरण की गुणवत्ता, ग्रामीण समुदायों की सामाजिक सहचारिता भी बनी रहे। यह आश्चर्य की बात है कि हमारी कार्यपुस्तिकाएं पढ़ने के बाद भी श्री

रॉय को ये बातें दिखाई नहीं दीं।

अपने पाठ्यक्रम का खाका तैयार करते समय हमने 'महिला मंगल दल' जैसे ग्रामीण संगठनों – जो कि स्वतःस्फूर्त रूप से सारे उत्तराखंड में उभरे हैं – से प्रेरणा ली है *(कृपया देखिए कक्षा-8वीं की पुस्तक में बॉक्स नं. 26-1, "महिला मंगल दल, टंगसा गांव")*। इन गांवों की महिलाओं ने बिल्कुल सही महसूस किया है कि सामग्री की किल्लत और बढ़ते काम के बोझ का कारण अपनी ज़मीन पर से उनका नियंत्रण खोना है। विशेषकर गांव की जंगली भूमि पर अधिकार खोना और सामूहिक वन प्रबंधन की परंपरा का क्षरण होना।

इस जांच-पड़ताल में यह तथ्य निहित है कि संपूर्ण कृषि तंत्र (जिसे पाठ्यक्रम में हमने 'ग्रामीण पारिस्थितिकी' कहा है) की उत्पादकता गांव के जंगल (जिसे पाठ्यक्रम में हमने 'पोषक क्षेत्र' कहा है) के स्वास्थ्य और उत्पादकता से जुड़ी हुई है। पिछली कुछ पीढ़ियों में ग्राम वनों का जो व्यापक विनाश हुआ है वो भी गांवों में गरीबी और तंगहाली का कारण है।

ये महिलाएं गांव के पारंपरिक पोषक क्षेत्र के प्रबंधन के लिए सामूहिक रूप में अपना दावा तो पेश कर ही रही हैं, साथ ही गांवों में संगठन को पुनर्जीवित करने की कोशिश भी कर रही हैं जो कि प्रभावी रूप से इसके प्रबंध को संभाल सकें। उन्होंने किसी से भी मदद की अपेक्षा करना बंद कर दिया है, खासकर सरकार से। उनके अपने संगठनों में उन्होंने सभी परिवारों – वास्तव में सभी लोगों – के भागीदारी और लोकतांत्रिक कार्यपद्धति की महत्व को पहचाना है। तो यह एक मॉडल है – एक खाका है। हमने अपना पाठ्यक्रम कुछ इस तरह तैयार किया है जिससे कि यह प्रक्रिया और मज़बूत हो – इस तरह कि आने वाली पीढ़ी के जो प्रबंधक हों उनके पास पारिस्थितिकी का ज्ञान, प्रबंधन की व्यवहारिक दक्षता हो, जिसकी उन्हें ज़रूरत पड़ेगी – अपने गांव के पोषक क्षेत्र को पुनर्जीवित करने और उच्च और टिकाऊ उत्पादन को स्थापित करने के लिए।

हम विद्यार्थियों को ब्रिटिश काल के दौरान उत्तराखण्ड में भूमि हस्तांतरण का इतिहास तो पढ़ाते हैं, उन्हें यह भी बताते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारी सरकार ने इन नीतियों को किस तरह जारी रखा (देखिए: कक्षा 10वीं कार्यपुस्तिका, बॉक्स नं. 57-2)। इसमें लोगों द्वारा भूमि हस्तांतरण के खिलाफ किए गए विरोध का एक ब्यौरा भी है।

हम इस बात से सहमत हैं कि गांव वालों को अपने जीवनयापन की वैध ज़रूरतों हेतु, अपने स्थानीय पर्यावरण के प्रबंधन के अधिकार के लिए जब भी ज़रूरी लगे सरकार के खिलाफ खड़े होना चाहिए। लेकिन हमारा यह भी मानना है कि वे यह भी जानें कि इन अधिकारों का इस्तेमाल किस तरह प्रभावी ढंग से करना है।

इस सबके साथ उन्हें इस सच्चाई का भी सामना करना पड़ेगा कि उनकी वर्तमान दुर्दशा में उनके कुप्रबंधन का भी कुछ हाथ है; इसीलिए ये सब बदलना होगा – उदाहरण के लिए जानवरों की चराई के तरीके को – क्योंकि यह तरीका पोषक क्षेत्र के प्रभावी प्रबंध से मेल नहीं खाता।

आज उत्तराखण्ड के लगभग हर गांव

में बिना किसी कानूनी बाधा के सामूहिक ज़मीन और पानी प्रबंधन की विस्तृत संभावनाएं हैं। कई जन समूहों का अनुभव भी यही बता रहा है। यानी स्थानीय ज़रूरतों के हिसाब से चारा, लकड़ी आदि के लिए गांव के बेनाप, वन–पंचायत, सिविल/सोयम भूमि के प्रबंधन में कोई कानूनी अड़चन नहीं है।

यदि कम-से-कम कुछ रिज़र्व वनों का प्रबंधन ग्रामीण समुदायों को न सौंपा गया तो उत्तराखण्ड में कई गांव आने वाले समय में शायद गुज़ारा नहीं कर पाएंगे, अगर वे अपनी जनसंख्या पर नियंत्रण कर लें, तो भी। इससे पहले कि वे अधिक ज़मीन पर नियंत्रण मांगे, उन्हें ज़मीन का बेहतर तरीके से प्रबंधन करने की अपनी क्षमता का परिचय देना होगा।

एक बात और जिस पर मैं टिप्पणी करना चाहूंगा। श्री राय पहाड़ों की खूबसूरती पर लिखते हुए शायद अपनी ही वाकपटुता से खिंचे चले गए। लेकिन वे एक नगरीय-उच्चवर्गीय, पर्यावरण उत्साही व्यक्ति की भावुकता दिखाते नज़र आ रहे थे। हमारा मानना है कि यह व्यर्थ है, क्योंकि इससे कोई सकारात्मक कार्यवाही नहीं निकलती है। यहां रहने वाले लोग अपने इन पहाड़ों का ख्याल अपनी जीविका-अर्जन के साथ करते हैं। और इस प्रक्रिया में खूबसूरती का सृजन भी होता है — सुप्रबंधित व उत्पादक खेत और जंगलों की खूबसूरती। वे किसी नैसर्गिक जंगल का पुनर्निमाण नहीं कर रहे हैं और न ही कर सकते हैं। वो तो शहरी भावुकतावादी भी नहीं कर सकते हैं।

एम. जी. जैक्सन
अल्मोड़ा, उ. प्र.

पिछले अंक में उत्तराखंड पर्यावरण शिक्षा केंद्र द्वारा तैयार पर्यावरण अध्ययन की किताबों की समीक्षा प्रकाशित हुई थी। समीक्षक की आलोचनाओं के संबंध में हमारा दृष्टिकोण हम स्पष्ट कर रहे हैं।

1. भाषा व शैली में सुधार करने के सुझाव पर हमें कोई आपत्ति या असहमति नहीं है। हमारी भी यही कोशिश रही है कि भाषा व शैली को यथासंभव सरल, रोचक और बोधगम्य बनाएं, लेकिन इस प्रयास में कुछ मुश्किलें भी अवश्य आती हैं।
2. गणना, चित्रण और व्याकरण की त्रुटियों तथा भूलों को सुधारने के सुझाव का भी हम स्वागत करते हैं। हम यही कोशिश करते हैं कि इस तरह की त्रुटियां न रहें, फिर भी कुछ छोटी-मोटी त्रुटियां अवश्य ही ठीक होने से रह गई हैं।
3. लेकिन, समीक्षक की इस बात पर हमें आपत्ति है कि इन कार्यपुस्तिकाओं में पर्यावरण की समस्या को समझने-समझाने में कुछ मूलभूत और गंभीर खामियां हैं। हमारे दृष्टिकोण में समीक्षक की यह मान्यता गलत और बेबुनियाद है।

समीक्षक का यह सोच लेना कि कार्य-पुस्तिकाओं में वनों की हानि के लिए अंग्रेज़ी हुकूमत तथा आज़ादी के बाद की स्वदेशी सरकार की वन-सम्पदा के दोहन संबंधी नीति को उत्तरदायी न ठहराना और स्थानीय ग्रामवासियों द्वारा की गई अति कटाई, चराई तथा अन्य लापरवाहियों का बार-बार दोहराया जाना स्थानीय समुदाय के प्रति बरती गई उपेक्षा व उदासीनता के कारण है तथा ऐसा जानबूझकर किया गया है, नितान्त असत्य है।

कार्य-पुस्तिकाओं में एक से अधिक बार यह कहा गया है कि वनों के प्रबन्ध से स्थानीय समुदाय को अलग रखना बड़ी भारी गलती रही है। इसके अलावा हमारे दृष्टिकोण से आत्म-परीक्षण को भूलकर मात्र बाहरी अपराधियों पर ही दोषारोपण करना एक महंगी नासमझी होगी।

4. इसी तरह समीक्षक के कुछ अन्य कथन जैसे – "पुस्तकों के पन्नों से मानो पहाड़ का भावविहीन चेहरा ही झांक रहा हो", "इस भेंट में मानव एक निर्जीव संसाधन मात्र प्रकट होता है" इत्यादि से भी हम पूर्णतया असहमत हैं। इन कार्यपुस्तिकाओं में मानव को केन्द्र में रखकर पर्यावरण की समस्याओं (स्थानीय) को परिभाषात्मक रूप में प्रस्तुत करने पर विशेष ज़ोर दिया गया है, जो कि इन समस्याओं को वैज्ञानिक तरीके से समझने व सुलझाने के लिए नितान्त ज़रूरी है।

स्थानीय पर्यावरणीय समस्याओं से निपटने में आंदोलनात्मक सक्रियता तथा भावनात्मकता की भूमिका को नकारने का हमने कोई प्रयास नहीं किया है। कार्य-पुस्तिकाओं में स्थानीय समुदाय तथा ग्राम संगठनों के प्रेरणादायक कार्यों का विस्तार-पूर्वक उल्लेख भी किया गया है।

5. पाठ्यक्रम में विद्यार्थियों को यह विचार देने का प्रयत्न भी किया गया है कि गांव के पोषक क्षेत्र और जन संसाधनों का सहकारी ढंग से प्रबंध करके गांवों से शहरों की ओर पलायन की समस्या को टाल सकते हैं और गांव में ही रह कर बेहतर तरीके से जीवन-निर्वाह कर सकते हैं। पाठ्यक्रम में विद्यार्थी अपने अध्ययन, गांव में खुद पर्यवेक्षण और मापन करके उत्पादन के वर्तमान स्तर ज्ञात करते हैं तथा भावी उत्पादकता का अनुमान भी लगाते हैं। अब तक अध्ययन किए गए गांवों में से अधिकांश के संबंध में यह अनुमान निकला है कि 'पोषक क्षेत्र' का बेहतर तरीके से प्रबंध करें तो अनाज, दूध, पानी, ईंधन इत्यादि बुनियादी ज़रूरतों की उपलब्ध मात्रा भविष्य में दुगुनी तक बढ़ सकती है।

इसी तरह से पाठ्यक्रम में विश्वव्यापी और स्थानीय आर्थिक, पर्यावरणीय तथा सामाजिक समस्याओं के बीच आपसी संबंध को समझाते हुए यह संदेश विद्यार्थियों को दिया गया है कि शहर को पलायन वास्तव में अब कोई विकल्प नहीं रहा है।

6. समीक्षक की टिप्पणी है 'उत्तराखंड के ग्रामीण स्कूली बच्चों की वास्तविक अवस्था की पहचान की कमी है।' हम इस आलोचना को स्वीकार नहीं करते। समीक्षक का मानना है कि 50 कि. ग्रा. क्षमता की कमानीदार तुला लेकर 12-13 वर्ष के छोटे बच्चे ग्राम-भ्रमण नहीं कर सकते, जबकि वास्तव में इस तुला का वज़न आधा किलो से भी कम होता है। इसके अलावा ग्राम-भ्रमण में पर्यावरण शिक्षक भी बच्चों के साथ जाते हैं। 'कक्षा 8 के विद्यार्थी की आदर्श छवि है' समीक्षक की इस आलोचना के संदर्भ में हम यही कहेंगे कि जिन विद्यालयों में पाठ्यक्रम को ठीक तरीके से पढ़ाया जा रहा है, व्यावहारिक अभ्यास किए जा रहे हैं और पर्यावरण शिक्षक ने टोलियां बनाकर विद्यार्थियों को ज़िम्मेदारी सौंपी है, उन विद्यालयों

के संदर्भ में हमारा अनुभव यही रहा है कि विद्यार्थी अपेक्षा के अनुरूप व्यवहार कर रहे हैं।

7. पाठ्यक्रम में अधिकतर अभ्यासों को विद्यार्थी स्वयं करके सीखते हैं लेकिन कुछ अभ्यासों को लेकर, व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, जिसके कारण प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा प्रायोगिक कार्य करना संभव नहीं होता। ऐसे में यह सुझाव दिया गया है कि अध्यापक प्रयोग करके दिखा देंगे। जैसे कि पटवारी के पास आंकड़े लेने के लिए सारी कक्षा को भेजने में व्यावहारिक कठिनाई होती है। इसलिए शिक्षक स्वयं जाकर या किसी विद्यार्थी को भेजकर आंकड़े प्राप्त करने की व्यवस्था कर सकते हैं।

8. समीक्षक के द्वारा लिखी गयी बहुत-सी बातें उनके किसी भ्रम का परिणाम लगती हैं। उनको ऐसा लगता है कि कार्य-पुस्तिकाओं में सार्वजनिक प्रक्रियाओं तथा संयुक्त परिवार को अड़चन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जबकि वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है। इसी तरह 'तमाम पारम्परिक तरीकों की बलि चढ़ा दी जाती है' वाक्य भी गले नहीं उतरता है। हमने केवल उन्हीं परम्पराओं को बदलने का सुझाव दिया है जो वर्तमान संदर्भों में पर्यावरणीय हानि के लिए अत्यधिक उत्तरदायी साबित हो रही हैं, जैसे कि मुक्त चराई।

घास चारे की अपेक्षा पत्ती चारे को अधिक महत्व देने का कारण यह है कि एक तो निश्चित क्षेत्रफल में पत्ती चारे की उत्पादकता घास चारे की तुलना में कई गुना ज़्यादा होती है और दूसरा कि हमें पेड़ों से वर्ष भर हरा चारा प्राप्त हो सकता है।

'अधिकतम संभव उत्पादकता' को प्राप्त करना अवश्य ही पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य है, परन्तु इस का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि यह पूंजीवादी तथा नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित व प्राकृतिक जीवन के सिद्धांतों के विरुद्ध है। पाठ्यक्रम में बेहतर भूमि प्रबंध के द्वारा 'टिकाऊ तरीके से' 'अधिकतम संभव उत्पादकता' को प्राप्त करने का सुझाव दिया गया है, जो कि प्राकृतिक जीवन के सिद्धांतों के अनुकूल है तथा ग्राम समुदाय सहित सभी के लिए हितकर भी। यह ठीक है कि उपयोगिता की परिभाषा मानव समाज से जुड़ी हुई है लेकिन इस कथन का कोई औचित्य नहीं है कि 'बीज, आहार और भूसे की ज़रूरतें अनाज का नष्ट होना हुआ।'

निजी स्वार्थों को 'टिकाऊ उत्पादन' और रख-रखाव के लिए अहम् ठहराना कोई अनुचित बात नहीं है। उत्तराखंड की पर्यावरणीय समस्याओं के लिए ये प्रमुख रूप से उत्तरदाई रहे हैं। सामाजिक रिश्तों, सुख-दुख, जन्म-मृत्यु, तीज-त्यौहार का महत्व अपनी जगह है, लेकिन जीवन निर्वाह के लिए ज़रूरी ईंधन, चारा, पानी, अनाज आदि का भी उतना ही महत्व है। समीक्षक को इस तथ्य को समझना चाहिए।

9. समीक्षक का कहना है 'पानी को नियंत्रित करने के लिए प्लास्टिक की चादरें, पाइप और टैंक, पहाड़ी झरनों के कलरव को मूक कर देती हैं।'' इस संदर्भ में हमारा दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक लगता है। क्योंकि उत्तराखंड के गांवों में जो लोग रह रहे हैं उनके लिए हिमालय या पहाड़ों

की सुन्दरता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है इनकी मूलभूत ज़रूरतों (भोजन, लकड़ी, पानी, चारा आदि) की पूर्ति। अगर मूलभूत आवश्यकताएं ही पूरी न हों तो हिमालय की बर्फीली चोटियों की सुन्दरता भी आदमी को उन्हीं गांवों में रोक सकने में सक्षम नहीं होगी।

उत्तराखंड में पानी की समस्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। पहाड़ों में झरने या नदियां होने के बावजूद भी महिलाओं का बहुत-सा समय गांव से दूर बह रहे झरनों या अन्य जल स्रोतों से पानी लाने में व्यतीत हो रहा है। वर्षा का अधिकतर पानी इस क्षेत्र से व्यर्थ ही बह जाता है।

यदि इस पानी का किसी भी उपयुक्त विधि से संग्रह हो सके तो यह ग्रामवासियों, विशेषकर महिलाओं का काफी समय और ऊर्जा को बचाने में मददगार होगा। प्रकृति का आनन्द लेने या झरनों का कलरव सुनने में किसी को भी आपत्ति नहीं, परन्तु जब प्रकृति से हमारी मूलभूत ज़रूरतें पूरी न हो पा रही हों तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक रचनात्मक कदम भी हमें उठाने ही होंगे – क्योंकि सिर्फ प्रकृति को देखकर वर्तमान परिस्थितियों में पेट नहीं भरा जा सकता।

ललित पांडे
उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र
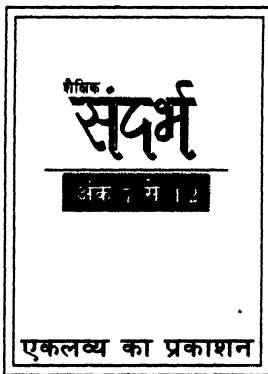
शिकारी से बचने की कोशिश में. . .

किशोर पंवार

कुछ जीव तीखे रंगों वाले तो कुछ ऐसे कि अगर पेड़, पत्तों, पत्थर आदि पर बैठ जाएं तो ढूंढ पाना मुश्किल हो जाए। दिखने में दो विराधाभासी दिशाएं परन्तु मंज़िल एक ही – शिकारी से बचाव।

विकास (Evolution) की लगातार चलती प्रक्रिया में शिकार होने से बचने के लिए विभिन्न जंतुओं में अलग-अलग तरह की क्षमताएं विकसित हुई हैं। जैसे कि कुछ जंतुओं का रंग अपने आसपास के वातावरण से इतना मिलता जुलता है कि उन्हें खोज पाना लगभग मुश्किल होता है। इसी तरह कुछ जंतुओं में अपने आसपास के वातावरण के हिसाब से रंग बदलने की क्षमता होती है। कुछ जंतु तो इससे भी आगे होते हैं कि रंग की बजाए अपने आसपास मौजूद किसी जीवन-हीन पदार्थ जैसे लकड़ी, पत्थर आदि के समान दिखते हैं। यानी ऐसी क्षमताएं कि शिकारी उन्हें देख नहीं पाए या फिर देखकर धोखा खा जाए।

लेकिन इन्हीं क्षमताओं के बीच कुछ जंतु ऐसे भी हैं जो आसपास के वातावरण के रंगों से बिल्कुल उलट बहुत ही भड़कीले रंग वाले होते हैं। इतने रंगीन कि शिकारी उन्हें दूर से ही पहचान सकता है। ऐसा विरोधाभास

छद्मवेशः कोस्टारिका में पाए जाने वाले एक मोथ (Moth) का छद्मवेश। इसके पंखों का रंग कुछ इस तरह है कि देखो तो लगता है कि मानो कोई पत्ती गिरी पड़ी हो। ये छद्मवेश कितना सफल होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि दिन के समय यह अपने रंग के हिसाब से कितना अनुकूल स्थान ढूंढ पाता है, जबकि शिकारी चिड़ियां भोजन की तलाश में निकलती हैं।

क्यों? लेकिन देखें तो यही विरोधाभास ही इनका सुरक्षा कवच है। दरअसल इनमें से अधिकतर तो इतने बेस्वाद होते हैं, दुर्गन्ध वाले होते हैं, ज़हरीले होते हैं, या छूने पर डंक मारते हैं या फिर कोई ज़हरीला पदार्थ फेंकते या छोड़ते हैं कि एक दो मुलाकातों के बाद शिकारी पक्षी उन्हें दूर से ही पहचान कर छोड़ देता है।

रंग से जुड़ी चेतावनी

दरअसल ऐसे रंगीले जंतुओं से एक दो मुलाकातों के बाद शिकारी इनके 'दुर्गुणों' से वाकिफ हो जाता है और तीखे रंगों की वजह से उन्हें पहचान कर दूर जाना ही ठीक समझता है। कई बार तो मुलाकात इतनी अप्रिय होती है कि शिकारी इन जंतुओं से मिलते-जुलते पैटर्नों वाले जंतुओं से भी दूर ही रहते हैं। विज्ञान की भाषा में इसे 'चेतावनी देने वाला रंगीन वेश' कहा जाता है।

जंतुओं के इस तरह के व्यवहार को समझने के लिए वैज्ञानिक जी. डी. एच. कारपेन्टर ने एक प्रयोग किया। उन्होंने कीट खाने वाले एक बंदर को खाने में 200 तरह के कीट परोसे। बंदर ने 83 प्रतिशत तो ऐसे कीटों को खाया जो छद्मवेशी* रंगों के थे और भड़कीले रंग वाले (चेतावनी देने वाले) सिर्फ 16 प्रतिशत कीटों को। जबकि भड़कीले रंगों वाले कई जीव तो ऐसी प्रजातियों (Species) से संबंधित थे जिन्हें बंदर ने पहले कभी

* ऐसे जीव जिनका रंग उनके निवास स्थान के अनुसार ढल गया होता है।

देखा ही नहीं था। इसको देखकर यह समझ में आता है कि रंगीन खतरों से जुड़ी सीख पूरी तरह केवल पूर्व अनुभवों पर आधारित नहीं होती। ऐसा लगता है कि वे शिकारी जीव जिनके पास चमकदार रंगों से बचने की अनुवांशिक क्षमता होती है लाभ में रहते हैं, बनिस्बत उन शिकारी जंतुओं के जो जीवों के पीछे भाग-भाग कर पहचानना सीखते हैं कि ये अखाद्य हैं।

मोनार्क तितली (ऊपर); और नीचे वाइसरॉय

लेकिन चेतावनी देने वाले रंगीन वेश का फायदा बिल्कुल इन्हीं से मिलते-जुलते जीवों को भी मिल जाता है जो न तो बेस्वादु होते हैं न ही ज़हरीले; जैसे कि मोनार्क तितली जैसा दिखने का फायदा वाइसरॉय तितली को। मोनार्क के पंख चमकदार नारंगी-काले होते हैं। वैज्ञानिक इन रंगों को चेतावनी देने वाले रंगों की श्रेणी में रखते हैं। वाइसरॉय रंगों के मामले में बिल्कुल मोनार्क के समान दिखती है।

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक जेन ब्रॉअर ने इस पहलू को जांचने के लिए कुछ प्रयोग किए। पहले प्रयोग में उन्होंने 'ब्लू जे' नाम के कुछ पक्षियों को 'वाइसरॉय' तितली दी। पक्षी ने इन्हें बड़े मज़े से खा लिया। इसके बाद उन्होंने 'ब्लू जे' को 'मोनार्क' तितली दी। यह अपने शरीर में मौजूद एक ज़हरीले पदार्थ के कारण बहुत बेस्वादु होती है। 'ब्लू जे' ने 'मोनार्क' को खाने के तुरंत बाद उल्टी कर दी। और एक दो बार के ऐसे ही अनुभवों के बाद तो उसने मोनार्क को खाने से ही इंकार कर दिया। अब दुबारा उन्हें
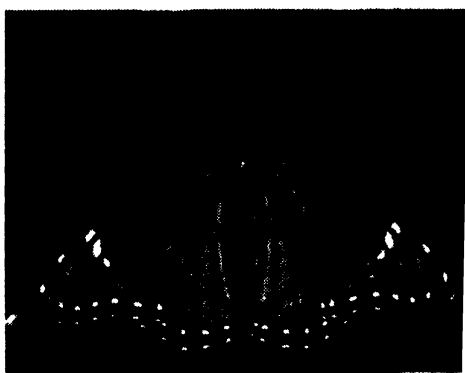
वाइसरॉय परोसी गई। लेकिन उन्होंने इसे नहीं खाया, जबकि पहले इसी को उन्होंने बड़े मज़े से खाया था।

लेकिन रंगीन चेतावनी वाले वेश के बाद भी क्या ये जीव पूरी तरह शिकारियों से बच पाते हैं?

जैसे कि मोनार्क को ही देखें तो सभी तितलियों में समान मात्रा में ज़हर नहीं होता बल्कि कुछ में कम और कुछ में बिल्कुल भी नहीं (देखें बॉक्स)।

तो शायद मेक्सिको के कुछ पक्षियों ने इस अंतर को जान लिया है। इसीलिए वे ऐसी तितलियों को चोंच मारकर 'टेस्ट' कर लेते हैं कि इसमें ज़हर है
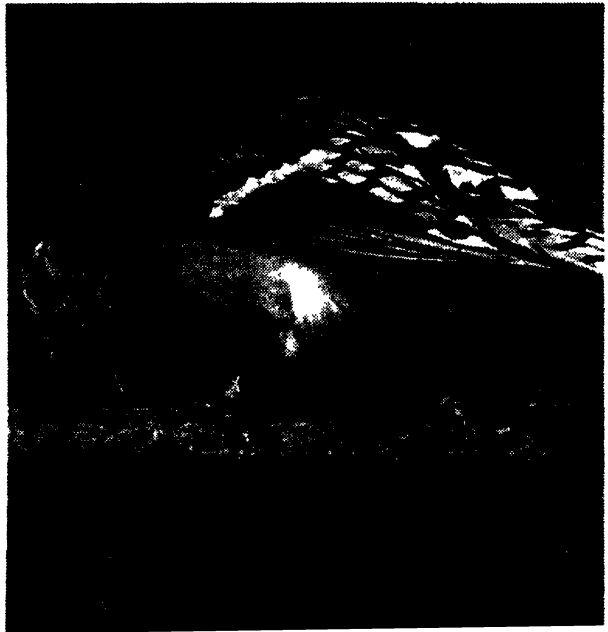
मोनार्क और ब्लू जे की मुलाकात

मिल्कवीड और मोनार्क

मिल्कवीड एक ज़हरीला पौधा है। इसमें केलोट्रोपीन नामक एक 'कार्डियक ग्लायकोसाइड' होता है जो ज़हरीला होता है। मोनार्क तितली (डेनस प्लेक्सीपस) की अधिकतर मादाएं इस पौधे पर अंडे देती हैं। तितली का लार्वा न सिर्फ इस ज़हर को पचा लेता है बल्कि यह ज़हर उसके शरीर के ऊतकों (Tissues) में जमा हो जाता है, जो व्यस्क अवस्था में भी तितली के शरीर में मौजूद होता है। इस तरह मोनार्क तितली पौधे में विकसित सुरक्षा प्रणाली का अपने लिए भी उपयोग कर लेती है। लेकिन विकास (evolution) की दृष्टि से शायद उसे इसकी कीमत भी चुकानी पड़ती है। स्वाभाविक है कि उसकी अपनी ऊर्जा का कुछ हिस्सा इस ज़हर को इकट्ठा करने और उसे ठीक तरीके से जमाने में खर्च होता है। यदि यह ऊर्जा इस काम पर खर्च न हो तो शायद लार्वा की वृद्धि तेज़ी से होती और वह अधिक तगड़ा व्यस्क बनता।

दूसरी ओर, कुछ मादाएं कम ज़हरीले और ऐसे पौधों पर भी अंडे देती हैं जो बिल्कुल भी ज़हरीले नहीं होते। वैज्ञानिकों का मानना है कि पौधे का चुनाव शायद विकास की पूरी प्रक्रिया से जुड़ा है। जिसमें मादाएं निर्णय शायद इस आधार पर करती हैं कि उनके झुण्ड की दूसरी मादाएं कहां अंडे दे रही हैं। यदि अधिकतर ज़हरीले पौधों पर अंडे दे रही हैं और कुछ ऐसे पौधों पर जिनमें कि ज़हर नहीं है तो निश्चित है कि उनसे जो व्यस्क बनेंगे वे खाने के अयोग्य नहीं होंगे। लेकिन रूप और रंग समान होने की वजह से शिकारी पक्षियों से उनके बचने की संभावना उतनी ही है जितनी कि समूह के दूसरे सदस्यों की।

कि नहीं – अगर ज़हरीली है तो फेंक दिया, नहीं तो खा लिया।

इसके अलावा वे शायद यह भी करते हैं कि कम ज़हरीली मोनार्क के शरीर के उन हिस्सों को खा लिया जहां ज़हर की जमावट सबसे कम होती है और बाकी हिस्से को फेंक दिया।

इस सबको देखकर कहा जा सकता है कि प्रकृति में सुरक्षा का कोई भी तरीका सौ फीसदी बचाव नहीं करता। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि मारे जाने का मतलब है सुरक्षा का तरीका नाकाम हो गया – बल्कि यूं कहना चाहिए कि इनकी वजह से ज़िंदा रहने की संभावना बढ़ जाती है।

मिल्कवीड पर अंडे देती मोनार्क

क्या यह भी वजह?

यहां मोनार्क तितलियों की एक और विशेषता पर गौर करना भी प्रासंगिक होगा। संदर्भ के 12वें अंक में प्रवास के बारे में लिखे गए लेख में अरविंद गुप्ते ने मोनार्क तितलियों का ज़िक्र किया था। तभी से मुझे मोनार्क और मिल्कवीड के संबंध में रुचि हुई। गौर तलब है कि मोनार्क तितलियां प्रवासी हैं। ये संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा से उड़कर मेक्सिको पहुंचती हैं, जहां ये मिल्कवीड पर अपने अंडे देती हैं।

इससे ऐसा लगता है कि भोजन व अन्य कारकों के अलावा, शिकारियों से अपनी सुरक्षा का प्रबंध भी शायद इस लम्बे प्रवास के विकास के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण रहा हो।

किशोर पंवार: शासकीय महाविद्यालय, सेंधवा में वनस्पति विज्ञान के सहायक प्राध्यापक।

लेख है पदार्थों के मिश्रण में से विभिन्न पदार्थों को अलग-अलग करने का। हां, पढ़ना शुरू करने से पहले अपने साथ कुछ चीज़ें रखें – चॉक, सोख्ता कागज़, खाली रीफिल और दो-तीन रंगों की स्याही। क्योंकि पढ़ने के साथ-साथ करने का मज़ा कुछ और ही होता है।

क्रोमेटोग्राफी यानी मिश्रण से अलग होते पदार्थ

सुशील जोशी

विभिन्न पदार्थों के मिश्रण में से प्रत्येक पदार्थ को अलग-अलग शुद्ध रूप में प्राप्त करना रसायनज्ञों का एक प्रमुख काम रहा है। इस काम के लिए छानने, बीनने से लेकर रवे बनाने तथा आंशिक आसवन जैसी विधियां इस्तेमाल की जाती हैं। मगर क्रोमेटोग्राफी की बात ही कुछ और है। इसके बारे में तो यह कहना ठीक रहेगा कि शायद क्रोमेटोग्राफी की अनुपस्थिति में कार्बनिक रसायनशास्त्र का इतना तेज़ विकास संभव ही न होता।

तो देखें कि क्रोमेटोग्राफी नामक यह विधि है क्या चीज़? दरअसल रसायनशास्त्र में पृथक्करण (मिश्रण में से पदार्थों को अलग-अलग करना) के लिए उपयोग में लाई जाने वाली अधिकांश विधियां रोज़मर्रा की विधियों के ही परिष्कृत रूप हैं। मगर क्रोमेटोग्राफी उन विधियों में से है जो रोज़ाना के अनुभवों में से नहीं उभरी है। वैसे है ये विधि बहुत आसान। और वर्णन करने से बेहतर होगा कि आप स्वयं इसका आनन्द लें। दरअसल इस विधि को समझने का यह सर्वोत्तम तरीका भी है।

चॉक पे बना छल्ला और पानी

सामग्री: क्रोमेटोग्राफी करने के लिए आपको किसी विशेष उपकरण की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। बस, एक सफेद चॉक, एक सोख्ता कागज़, कुछ रंग-बिरंगी स्याहियां, पानी और एक खाली डिब्बा।

कैसे करें: दो-तीन रंगों की स्याहियों की थोड़ी-थोड़ी मात्रा लेकर आपस में मिला दीजिए। ये हो गया हमारा मिश्रण।

अब एक चॉक लीजिए — ऐसा जो सीधा खड़ा रह सके। इस चॉक के मोटे वाले सिरे से करीब 1 से.मी. छोड़कर मिश्रण का एक छल्ला-सा बना दीजिए। छल्ला बनाने के लिए माचिस की तीली, आलपिन या रीफिल से काम चल जाएगा। छल्ले की मोटाई जितनी कम होगी उतना ही अच्छा रहेगा।

एक डिब्बे में थोड़ा-सा पानी डाल दें और छल्ले की तरफ से इस चॉक को उसमें खड़ा कर दें। पानी बस इतना हो कि छल्ला उसमें डूबने न पाए। वैसे डिब्बे की बजाए डिब्बे के ढक्कन से भी काम चल जाएगा।

आप देखेंगे कि पानी धीरे-धीरे चॉक पर चढ़ेगा। उसे चढ़ने दीजिए जब तक कि वह चॉक के ऊपरी सिरे पर न पहुंच जाए।

अब चॉक को निकालकर उसका अवलोकन कीजिए। क्या स्याहियां अलग-अलग नज़र आ रही हैं?

चित्र 1: स्याही के मिश्रण का एक छल्ला चॉक पर बनाइए। इसे किसी डिब्बे के ढक्कन में, जिसमें पानी हो, खड़ा कर दीजिए। ध्यान रहे कि छल्ला पानी में न डूबने पाए।
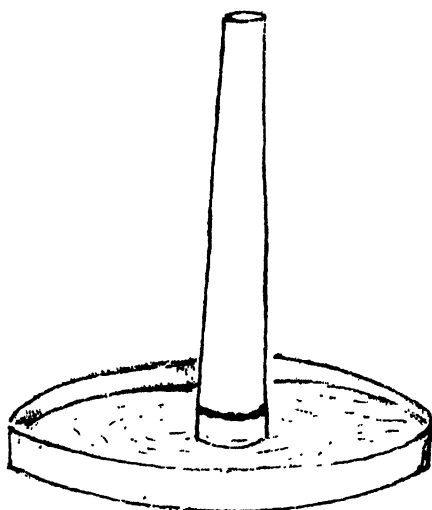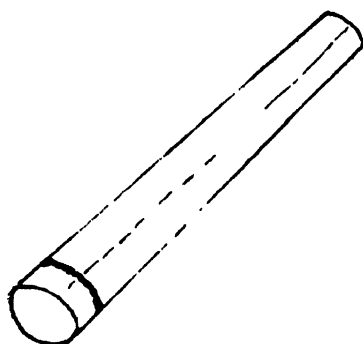
सोख्ता कागज़ से भी: इस प्रयोग को सोख्ता कागज़ से भी कर सकते हैं। तो देर किस बात की? कर ही डालिए।

सोख्ता कागज़ की एक पट्टी लीजिए – 10 से.मी. लम्बी और 2 से.मी. चौड़ी। इस पट्टी पर – किसी भी एक छोर से करीब दो सेंटीमीटर छोड़कर – मिश्रण की एक बारीक बूंद लगा दीजिए, जिससे कि कागज़ की पट्टी पर एक छोटा-सा बिन्दु बन जाए। बूंद जितनी बारीक लगेगी, आगे का काम उतना ही बढ़िया होगा।

बूंद लगे इस कागज़ को अब डिब्बे में लटका दीजिए। लटकाना इस तरह है कि पट्टी डिब्बे के पेंदे से थोड़ा ऊपर रहे और डिब्बे की दीवारों को भी न छुए। वैसे सबसे बढ़िया तरीका यह होगा कि डिब्बे के मुंह पर एक बॉल पॉइन्ट पेन की रीफिल रखें, कागज़ को ऊपर से मोड़ें और रीफिल पर लटका दें।

लटकाने के बाद डिब्बे में इतना पानी डालें कि कागज़ का निचला छोर तो डूब जाए मगर मिश्रण की बूंद पानी से ऊपर रहे। बस, अब चलने दीजिए प्रयोग।

इन दो प्रयोगों में जिस विधि से स्याही का पृथक्करण हुआ, उसे 'क्रोमेटोग्राफी' कहते हैं। आगे हम और रोचक प्रयोग करेंगे। वैसे यह ज़रूरी नहीं है कि आप स्याहियों का मिश्रण ही बनाएं। कई स्याहियां खुद ही कई

चित्र 2: सोख्ता कागज़ से क्रोमेटोग्राफी
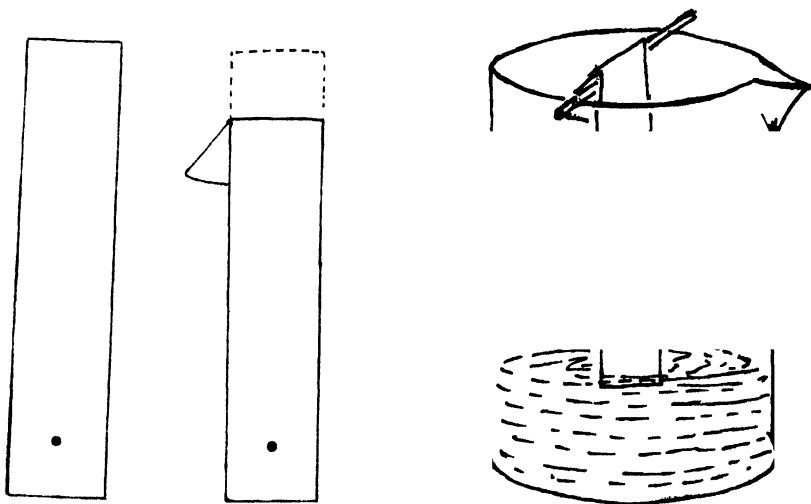
रंगों का मिश्रण होती हैं। आप चाहें तो चेलपार्क कम्पनी की काली स्याही, कैमल की हरी स्याही या स्केच पेन की काली स्याही की क्रोमेटोग्राफी करके इस बात को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकते हैं।

पत्तियों के हरे रंग से...

जैसा कि मैंने कहा, क्रोमेटोग्राफी न होती, तो कम-से-कम कार्बनिक रसायन इतनी तेज़ी से तरक्की नहीं करता। क्रोमेटोग्राफी अत्यंत उपयोगी विधि है। यह सिर्फ पृथक्करण में ही नहीं बल्कि पदार्थों की पहचान व उनकी शुद्धता की जांच में भी कारगर साबित होती है।

इस रोचक व कारगर विधि का आविष्कार इस सदी की शुरुआत में हुआ था। शायद 1923 या 1927 की बात है। पक्का तो मालूम नहीं लेकिन शायद कोई सोवियत या स्वीडिश वैज्ञानिक था, जिसने सबसे पहले इसका उपयोग पत्तियों के हरे रंग के विश्लेषण के लिए किया था। उस वैज्ञानिक ने कैल्शियम कार्बोनेट (जी हां, खड़िया) का चूरा एक कांच की नली में भर लिया और इस भरी नली के एक सिरे पर पत्तियों से प्राप्त हरे रंग को डाला। अब नली को खड़ा कर उसने कोई द्रव पदार्थ इसी सिरे (रंग वाले) से डालना शुरू किया। द्रव धीरे-धीरे कैल्शियम कार्बोनेट में से रिसता हुआ नली के दूसरे छोर पर पहुंच गया। स्पष्ट दिख रहा था कि हरा पदार्थ इकलौता नहीं था, बल्कि दो पदार्थों का मिश्रण था।
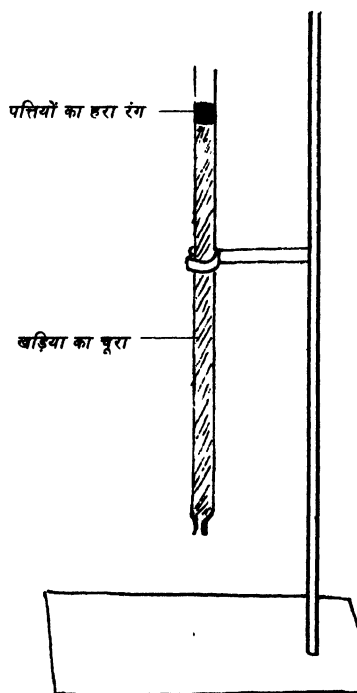
चित्र 3: ऐतिहासिक प्रयोग: एक कांच की नली में खड़िया के चूरे को भर दिया गया और ऊपर की ओर पत्तियों से प्राप्त हरे रंग को डाला। इसके बाद कोई दूसरा द्रव ऊपर से डाला। यह द्रव धीरे-धीरे रिसता हुआ नली के दूसरे छोर पर पहुंच गया। जो परिणाम मिला उसके मुताबिक हरा रंग अपने आप में इकलौता नहीं था बल्कि दो पदार्थों का मिश्रण था।

यही पदार्थ क्लोरोफिल-ए और क्लोरोफिल-बी कहलाए।

कैसी-कैसी क्रोमेटोग्राफी

आपने ध्यान दिया होगा कि हमने चॉक व कागज़ पर जो क्रोमेटोग्राफी की थी उसमें पानी (तरल पदार्थ) नीचे से ऊपर चढ़ रहा था। जबकि क्लोरोफिल वाले प्रयोग में तरल पदार्थ (यह तरल पदार्थ शायद पानी नहीं था) ऊपर से नीचे बहाया गया था। पहली, यानी चॉक वाली क्रोमेटोग्राफी को चढ़ती (Ascending) क्रोमेटोग्राफी कहते हैं जबकि दूसरी को उतरती (Descending) क्रोमेटोग्राफी कहते हैं। तो यह तो हो गया पहला वर्गीकरण।

वैसे इसका और भी कई तरह से वर्गीकरण किया जा सकता है। लेकिन उससे पहले हम अब क्रोमेटोग्राफी का एक सामान्य विवरण प्रस्तुत कर सकते हैं।

दरअसल क्रोमेटोग्राफी के लिए ज़रूरी हैं – *दो परस्पर अघुलनशील पदार्थ*। इन दो परस्पर अघुलनशील पदार्थों को दो अवस्थाएं कहा जाता है। हमारा मिश्रण इन्हीं दो अवस्थाओं के बीच लटका या टंगा होता है।

ये दो अवस्थाएं कई किस्म की हो सकती हैं। जैसे कि हमने अपने प्रयोग में किया एक ठोस अवस्था (चॉक या सोख्ता कागज़) ली और एक तरल (पानी)। ठोस अवस्था स्थिर (अचल) थी और तरल गतिमान। इसी तरह हम एक ठोस व एक गैस अवस्था भी ले सकते हैं; दो परस्पर अघुलनशील तरल पदार्थ भी लिए जा सकते हैं। यानी क्रोमेटोग्राफी कई किस्म की हो सकती है:

ठोस-द्रव
ठोस-गैस
द्रव-द्रव
द्रव-गैस

हम यहां सिर्फ 'ठोस-द्रव क्रोमेटोग्राफी' की ही बात करेंगे। हालांकि सिद्धांत रूप में सभी क्रोमेटोग्राफी समान हैं मगर तकनीक के स्तर पर इनकी जटिलता बढ़ती जाती है।

'ठोस-द्रव क्रोमेटोग्राफी' करना वैसे तो काफी आसान है, मगर पृथक्करण की गुणवत्ता बढ़ाना हो तो इसी क्रोमेटोग्राफी को काफी परिष्कृत व महंगे उपकरणों से भी करना पड़ता है।

ठोस-द्रव क्रोमेटोग्राफी में पचासों प्रकार की ठोस व द्रव अवस्थाएं ली जा सकती हैं। मसलन कैल्शियम कार्बोनेट और कागज़ (यानी सेलूलोज़) का उपयोग तो हमने ऊपर वाले प्रयोग में किया है ही। इनके अलावा एल्यूमीनियम ऑक्साइड (एलुमिना), सिलिकॉन ऑक्साइड (सिलिका – जी हां, रेत) आदि का उपयोग बहुतायत से किया जाता है।

इसी तरह तरल अवस्था के लिए पेट्रोल, क्लोरोफॉर्म, एल्कोहल, बेन्ज़ीन आदि न जाने कितने तरल पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है। वैसे तरल अवस्था के चयन में ही ज़्यादा विविधता होती है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा था क्रोमेटोग्राफी का उपयोग पृथक्करण के अलावा पदार्थों की पहचान व शुद्धता की जांच के लिए भी किया जा सकता है। आइए इन तीनों उपयोगों को एक-एक करके देखते हैं।

रंगहीन या सफेद पदार्थ

लेकिन उससे पहले शायद एक बात समझ लेना ज़रूरी रहेगा। क्रोमेटोग्राफी का शाब्दिक अर्थ 'रंग-चित्र' होता है। परन्तु यह ज़रूरी नहीं है कि क्रोमेटोग्राफी से सिर्फ रंगीन पदार्थों का ही पृथक्करण किया जाए।

चूंकि शुरू में पत्तियों के हरे पदार्थ का विश्लेषण किया गया था इसलिए 'क्रोमेटोग्राफी' नाम इस विधि से चिपक गया है। सफेद व रंगहीन पदार्थों के विश्लेषण-पृथक्करण में भी यह विधि समान रूप से कारगर है। परन्तु आपके मन में यह सवाल ज़रूर उठेगा कि अगर चॉक या कागज़ पर पदार्थ अलग-अलग हो भी गए तो फिर हमें यह पता कैसे चलेगा कि अलग-अलग पदार्थ हैं कहां-कहां। यह पता करने के कई तरीके हैं।

मसलन कई पदार्थ ऐसे होते हैं जो सामान्य रोशनी में तो सफेद या रंगहीन होते हैं मगर पराबैंगनी प्रकाश (अल्ट्रा-वॉयलेट) में देखने पर रंगीन नज़र आते हैं। यानी क्रोमेटोग्राफी करने के बाद क्रोमेटोग्राम* को पराबैंगनी प्रकाश में रखकर देखा जा सकता है।

इसी तरह कार्बनिक पदार्थ, गन्धक के सांद्र अम्ल के साथ क्रिया करके काले-कत्थई पड़ जाते हैं। यदि क्रोमेटोग्राम पर इस अम्ल का छिड़काव (स्प्रे) किया जाए और फिर उसे थोड़ा गर्म कर दिया जाए, तो पदार्थ जहां-जहां होंगे, वे काले धब्बे के रूप में दिखने लगेंगे। ज़ाहिर है कि इस प्रयोग में आपको मात्र यही पता चलेगा कि क्रोमेटोग्राम पर पदार्थ के कण कहां-कहां थे। लेकिन पदार्थ प्राप्त नहीं होंगे – वे तो गन्धक के अम्ल के साथ क्रिया करके नष्ट हो चुके होंगे।

एक तरीका यह भी होता है कि क्रोमेटोग्राम को आयोडीन वाष्प से भरे डिब्बे में रख दिया जाए। आयोडीन उन जगहों पर ज़्यादा चिपकती है (अवशोषित होती है) जहां कार्बनिक पदार्थ होते हैं। इसलिए ये धब्बे-पट्टियां नज़र आने लगते हैं। खुली हवा में रखने पर आयोडीन वापस उड़ जाती है।

*क्रोमेटोग्राफी पूरी होने के बाद मिश्रण के विभिन्न पदार्थों का जो पैटर्न नज़र आता है।

पदार्थों की उपस्थिति देखने के और भी कई तरीके होते हैं। इनमें से कुछ तो बेहद परिष्कृत होते हैं।

अब हम यह समझने की कोशिश करते हैं कि विभिन्न उद्देश्यों के लिए क्रोमेटोग्राफी कैसे की जाती है।

1. पदार्थों को अलग-अलग करना: जब हम क्रोमेटोग्राफी से पृथक्करण की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि हम चाहते हैं कि मिश्रण के सारे पदार्थ (या कभी-कभी कोई एक चुनिंदा पदार्थ) हमें प्राप्त हो जाएं। इसका मतलब है कि हमारे पास मिश्रण काफी मात्रा में है। यहां काफी मात्रा शब्द का अर्थ स्पष्ट करना ज़रूरी है। क्रोमेटोग्राफी के संदर्भ में इसका अर्थ चंद मिलीग्राम तक हो सकता है। सामान्य क्रोमेटोग्राफी से आप 5-10 मि.ग्रा. मिश्रण तक का पृथक्करण कर सकते हैं। यदि उच्च दबाव क्रोमेटोग्राफी कर रहे हैं तो यह मात्रा माइक्रोग्राम में भी हो सकती है।

पृथक्करण की दृष्टि से आमतौर पर हम स्तम्भ (यानी कॉलम) क्रोमेटोग्राफी का इस्तेमाल करते हैं। मिश्रण की मात्रा कम होने पर महीन सतह (Thin layer) क्रोमेटोग्राफी भी की जाती है। स्तम्भ क्रोमेटोग्राफी के लिए ठोस अवस्था को कांच की एक नली में भर लिया जाता है। यानी ठोस अवस्था का एक स्तम्भ बन जाता

चित्र 4: स्तम्भ क्रोमेटोग्राफी

है। इस स्तम्भ के ऊपरी सिरे पर मिश्रण घुलित अवस्था में डाल दिया जाता है। अब तरल अवस्था को ऊपर से डालना शुरू करते हैं। धीरे-धीरे तरल अवस्था नीचे की ओर बढ़ती है और साथ में मिश्रण के विभिन्न पदार्थ अलग-अलग गति से बढ़ते हैं। जब तरल अवस्था नली के निचले छोर पर पहुंचे, यदि तब क्रोमेटोग्राफी रोक दी जाए तो स्थिति कुछ चित्र-4 जैसी होगी। इसमें से बेशक सारे पदार्थ अलग-अलग प्राप्त किए जा सकते हैं, मगर मुश्किल से। इसके लिए एक सरल विधि अपनाई जाती है।

उपरोक्त स्थिति में क्रोमेटोग्राफी को रोका नहीं जाता। तरल को नली के निचले सिरे से बहने दिया जाता है और उसे फ्लास्कों में एकत्रित किया जाता है। हमें यह तो पता नहीं है कि तरल पदार्थ के साथ कब, कौन-सा पदार्थ आ रहा है, इसलिए तरल पदार्थ की थोड़ी-थोड़ी मात्रा (मान लीजिए 25-25 मि.ली.) अलग-अलग एकत्रित की जाती है। ऐसे प्रत्येक अंश को अलग-अलग ही रखा जाता है। बाद में इनका विश्लेषण करके देखते हैं कि किन-किनको आपस में मिलाया जा सकता है।
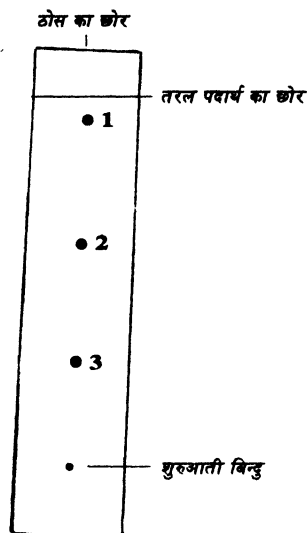
2. शुद्धता की जांच व पहचान: ये दोनों उपयोग दरअसल एक जैसे ही हैं। विशेषता यह है कि क्रोमेटोग्राफी के द्वारा ये काम पदार्थ की बहुत ही कम मात्रा के साथ किए जा सकते हैं। इसका सिद्धांत बहुत आसान है।

जब ठोस अवस्था पर तरल अवस्था आगे बढ़ती है तो प्रत्येक पदार्थ उसके साथ एक निश्चित गति से आगे बढ़ता है। अब इस बात को दो तरह से रखा जा सकता है।

पहला, कि यदि क्रोमेटोग्राफी को रोका न जाए, तरल पदार्थ को लगातार बहने दिया जाए, तो तरल का एक निश्चित आयतन बह जाने के बाद पहला पदार्थ ठोस अवस्था के अंतिम छोर पर पहुंचेगा। फिर यह तरल पदार्थ

शुद्धता की पहचान के लिए क्रोमेटोग्राफी: तरल मिश्रण के अलग-अलग पदार्थ ठोस पर अलग अलग स्थानों तक पहुंचेंगे। अगर परिस्थितियां एक-सी रखी जाएं और प्रयोग को कई बार दोहराया जाए तो एक निश्चित समय में विभिन्न पदार्थ हर बार समान दूरी तक पहुंचेंगे।

के साथ बहकर बाहर निकल जाएगा। इसके बाद तरल का कुछ और निश्चित आयतन बहने के बाद अगला पदार्थ बहेगा, वगैरह-वगैरह।

यदि इसी बात को दूसरी तरह से रखें तो – यदि तरल के ठोस के अंतिम छोर तक पहुंचने तक या उससे पहले ही क्रोमेटोग्राफी को रोक दिया जाए, तो मिश्रण के सारे पदार्थ ठोस पर विभिन्न स्थानों तक पहुंच चुके होंगे।

यदि यह क्रोमेटोग्राफी बार-बार करें और हर बार परिस्थितियां एक-सी हों तो हर बार प्रत्येक पदार्थ एक निश्चित दूरी तक ही पहुंचता है। इस आधार पर पदार्थ की पहचान की जा सकती है।

परन्तु क्रोमेटोग्राफी की परिस्थितियां एक-सी रखना बहुत मुश्किल काम है। इसलिए किया यह जाता है कि जिन पदार्थों की आपस में तुलना करनी हो उनकी क्रोमेटोग्राफी एक साथ की जाती है। जैसे कि मान लीजिए आपने किसी वनस्पति में से एक पदार्थ प्राप्त किया है। आपका अनुमान है कि यह पदार्थ कोलेस्ट्रॉल है। आप कहीं से कोलेस्ट्रॉल का एक जाना-पहचाना नमूना लाएंगे और अपने पदार्थ व इस मानक कोलेस्ट्रॉल की क्रोमेटोग्राफी साथ-साथ कर डालेंगे। यदि दोनों एक ही दूरी तक पहुंचते हैं तो लगभग यकीन से कहा जा सकता है कि आपका पदार्थ कोलेस्ट्रॉल ही है। यदि दोनों अलग-अलग दूरी तक पहुंचते हैं, तो पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि आपका पदार्थ कोलेस्ट्रॉल नहीं है।

इस प्रकार की तुलना सोख्ता कागज़ वाली क्रोमेटोग्राफी में आसानी से की जा सकती है। दोनों पदार्थों को उपयुक्त घोल में घोलकर एक ही कागज़ पर पास-पास उनकी एक-एक बूंद लगाकर क्रोमेटोग्राफी कर लें। आपका काम हो गया।

वैसे इसी काम के लिए महीन सतह क्रोमेटोग्राफी भी इस्तेमाल में लाई जाती है। महीन सतह क्रोमेटोग्राफी के लिए पहले ठोस अवस्था की एक महीन सतह तैयार करनी होती है। कांच की एक प्लेट पर महीन सतह तैयार करके शेष काम कागज़ क्रोमेटोग्राफी की तरह ही किया जाता है। वैसे इस चर्चा से आप समझ गए होंगे कि स्तम्भ क्रोमेटोग्राफी से प्राप्त अंशों का विश्लेषण किस तरह किया जाता है।

तो अब आते हैं शुद्धता की जांच पर। कागज़ पर या महीन सतह पर क्रोमेटोग्राफी करें और क्रोमेटोग्राफी में पदार्थ एक ही धब्बे के रूप में दिखे तो लगभग पक्की बात है कि वह पदार्थ शुद्ध है। लगभग पक्की बात को और पक्की करने के लिए थोड़ा अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। यदि तरल अवस्था में थोड़ा परिवर्तन करने के बाद फिर से क्रोमेटोग्राफी करने पर भी पदार्थ, क्रोमेटोग्राम में एक ही धब्बे के रूप में दिखता है तो यकीन मानिए वह पदार्थ शुद्ध है। और यह जांच वाकई मिलीग्राम के सौवें भाग के साथ भी की जा सकती है।

सही माएने में पहचान या शुद्धता के मकसद से क्रोमेटोग्राफी करते वक्त परिस्थितियां कुछ इस तरह एडजस्ट की जाती हैं कि हमारा पदार्थ, तरल के आखिरी छोर से लगभग आधी दूरी तक पहुंचे।

अभी क्रोमेटोग्राफी के और कई रूप हैं जिनकी चर्चा हमने नहीं की है।

मगर मोटे तौर पर यही बातें उनपर भी लागू होंगी। जानबूझ कर मैं इसके सैद्धांतिक पक्ष में नहीं गया हूं। और क्रोमेटोग्राफी की सरलता व कारगरता को देखते हुए आप स्वयं सोच सकते हैं कि यह विधि कितनी उपयोगी होगी।

दो मज़ेदार प्रयाग

दो रोचक प्रयोगों के साथ हम इस लेख का समापन कर सकते हैं। पहला प्रयोग है उतरती क्रोमेटोग्राफी का। जैसा कागज़ क्रोमेटोग्राफी में किया था, ठीक वैसा ही करें। अंतर सिर्फ इतना होगा कि डिब्बे में पानी ऊपर तक भर लें और कागज़ के ऊपरी मुड़े हुए सिरे को पानी में डुबोते हुए कागज़ को डिब्बे से बाहर लटकने दें। मुड़े हुए सिरे से चढ़ता हुआ पानी ऊपर तक पहुंचेगा और फिर बाहर लटकते हुए कागज़ पर नीचे 'उतरेगा'।
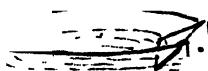
ज़रा देखिए कि वो रंग जो चढ़ती कागज़ क्रोमेटोग्राफी में सबसे तेज़ी से आगे बढ़ा था (यानी सबसे ऊपर पहुंचा था), उतरती क्रोमेटोग्राफी में भी क्या वह सबसे तेज़ी से आगे बढ़कर सबसे नीचे पहुंचता है?

दूसरा प्रयोग: एक गोलाकार सोख्ता कागज़ लीजिए। इसके बीचों-बीच सफाई से एक छेद बना लीजिए। छेद से करीब आधा से. मी. जगह छोड़कर, स्केच पेन से एक घेरा बना दीजिए।

अब एक और सोख्ता कागज़ लीजिए और उसको लपेटकर एक नली बना लीजिए। इस नली को ऊपर बनाए गए छेद में पिरो दीजिए। एक बीकर या डिब्बे में आधा पानी भर लीजिए। अब गोलाकार सोख्ता कागज़ को इस डिब्बे पर इस तरह रखिए कि नली पानी में डूबी रहे। बस इन्तज़ार कीजिए और देखिए क्या होता है!
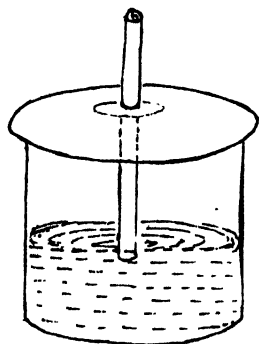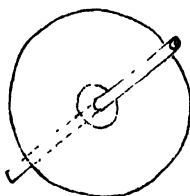
सुशील जोशी: पर्यावरण एवं विज्ञान लेखन में सक्रिय, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

वसा-प्रोटीन की जिगरी दोस्ती
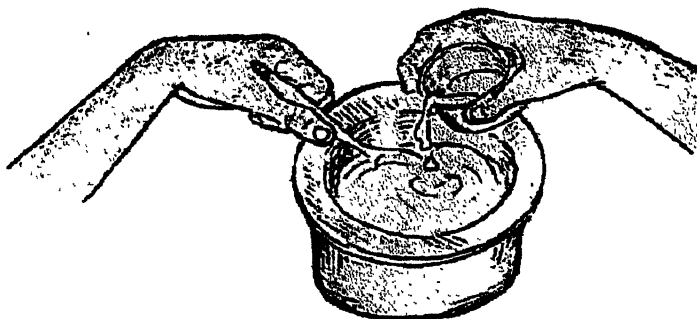
सवाल: दूध में नींबू डालने से वह फटता क्यों है?

जवाब: एक छोटी-सी खबर से शुरू करें तो कैसा रहेगा? पिछले साल जब अखबारों में पढ़ा था कि दिल्ली के आसपास के गांवों में लोग यूरिया, तेल, डिटरजेंट वगैरह को पानी में घोलकर दूध (सिंथेटिक मिल्क) बना रहे हैं तो ताज्जुब हुआ कि ऐसे भी दूध बनाया जा सकता है!

हमारी जानकारी में तो प्राकृतिक दूध एक बढ़िया घोल होता है जिसमें ढेर सारे पानी में कुछ वसा, कुछ प्रोटीन (मुख्यत: कैसीन), कुछ लवण और कुछ विटामिन घुले होते हैं। आमतौर पर दूध में 4-7 प्रतिशत वसा और 2-4 प्रतिशत प्रोटीन और अल्प मात्रा में दुग्ध शर्करा, लवण आदि होते हैं। शेष हिस्सा पानी होता है।

अब देखते हैं कि दूध इतना बढ़िया घोल कैसे बन जाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि वसा पानी में नहीं घुलता। यदि हम अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को ही देखें तो पता चलता है कि तेल या घी को पानी में डालने पर तेल और पानी अलग-अलग रहते हैं। इसी प्रकार प्रोटीन भी पानी में अघुलनशील है। लेकिन प्रोटीन कुछ शर्तों पर पानी में घुलने को तैयार हो जाता है। जैसे प्रोटीन हल्के क्षारीय माध्यम में घुलनशील है। दूध में लवणों का संतुलन ऐसा होता है कि दूध की प्रकृति हल्की क्षारीय होती है। अत: दूध में प्रोटीन घुले रहते हैं।

फिर भी यह सवाल तो अभी भी वहीं है कि दूध में वसा किस तरह घुला रहता है? वास्तव में देखा जाए तो वसा दूध में घुली हुई अवस्था में नहीं, लगभग लटकी हुई अवस्था में होता है। और यह लटकना भी प्रोटीन के कारण ही संभव हुआ है। विज्ञान की भाषा में कहें तो वसा निलंबित (सस्पेंडेड) रहता है। दूध में प्रोटीन के अणु वसा की छोटी-छोटी बूंदों (ड्रापलेट्स) को घेर लेते हैं जिससे वसा एक बड़ा गोला नहीं बना पाता और छोटी-छोटी बूंदों के रूप में प्रोटीन के साथ दूध में बना रहता है।

यानी दूध एक जटिल किस्म का घोल है जिसमें पानी में घुले लवणों के कारण घोलक की प्रकृति क्षारीय बनी रहती है; इस क्षारीय घोल में प्रोटीन (कैसीन) आसानी से घुलने के लिए राज़ी हो जाता है। यह प्रोटीन वसा को इस घोल में लटकी हुई अवस्था में बांधकर रखता है। यदि किसी तरह से प्रोटीन को घोल से बाहर निकाल दिया जाए तो दूध नाम का यह घोल भी खत्म हो जाएगा। कैसीन के निकलते ही वसा भी घोल में अपनी लटकी हुई अवस्था से अलग हो जाएगा। और बच जाएगा पानी और कुछ लवण।

जब दूध में नींबू निचोड़ते हैं तो दूध की अम्लीयता बढ़ जाती है। अम्लीय माध्यम में प्रोटीन घोल में नहीं रह पाता। वसा की बूंदों को घेरता हुआ प्रोटीन जैसे ही घोल से अलग होता है तो वसा भी घोल से बाहर हो जाता है और दूध में खूब सारे थक्के बनने लगते हैं। इसे हम दूध का फटना कहते हैं।

वैसे प्रोटीन-वसा की यह जिगरी दोस्ती तोड़ने के और भी तरीके हैं। जैसे यांत्रिक क्रिया द्वारा – सप्रेटा दूध बनाकर या, लवणों के असर से – फिटकरी को दूध में डालकर देखिए। यानी जिस किसी भी तरह से जिससे प्रोटीन को अघुलनशील बनाया जा सके। ऐसे तरीकों में दूध में नींबू निचोड़ना भी शामिल है।

हो सकता है आप सोच रहे हों कि दूध में नींबू निचोड़ने पर तो 'छेना' बनता है लेकिन दूध में 'जामन' डालने से दही बनता है, तब दूध क्यों नहीं फटता? सोचिए यह कैसे होता होगा और संदर्भ के माध्यम से अन्य पाठकों को भी बताइए।

इस सवाल को पूछा था गगन बंसल, गढ़ीपुरा, हरदा, ज़िला होशंगाबाद म. प्र. ने।

और इस बार सवालीराम का सवाल पृष्ठ नं 95 पर देखिए।

भूकंप, ज्वालामुखी और प्लेट टेक्टोनिक्स

आमोद कारखानिस

. . . यूं तो भूकंप कहीं भी आ सकते हैं लेकिन अधिकतर इनका फैलाव एक सीमित दायरे में होता है। उसी तरह दुनिया के ज़्यादा सक्रिय ज्वालामुखी अधिकतर ऐसे महाद्वीपीय तटों पर हैं जिनके नीचे के महासागर में गहरी-गहरी खाइयां हैं . . .

हमारे पैरों के नीचे जो धरती है वो बिल्कुल शांत है, स्थिर है – अगर इस धारणा को तोड़ना हो तो किसी ऐसे क्षेत्र में जाइए जहां भूकंप और ज्वालामुखी लोगों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी का अंग बन चुके हैं। जैसे कि जापान, तुर्की, ईरान, इंडोनेशिया आदि; लेकिन यह ध्यान रखते हुए कि ज्वालामुखी और भूकंप जैसी घटनाएं सुनने में तो रोमांचक लग सकती हैं लेकिन हकीकत में इनका अनुभव दिल दहला देने वाला होता है।

चलिए समस्या को ज़रा दूसरी ओर से पकड़ने की कोशिश करते हैं।

सारे-के-सारे महासागर कहीं-न -कहीं महाद्वीपों से मिल रहे हैं। या यूं कहें कि सभी महाद्वीप चारों ओर से महासागरों से घिरे हुए हैं। क्या होता है इन तटीय किनारों पर?

भारत के तट पर, जहां हिंद महासागर इससे मिलता है, कुछ नहीं होता; इसी तरह अटलांटिक महासागर जहां दक्षिण अमेरिका के तट से मिलता है वहां भी कुछ नहीं होता – कोई भूकंप नहीं है, कोई ज्वालामुखी नहीं है। लेकिन यही हिंद महासागर जहां इंडोनेशिया द्वीप समूह से मिलता है तो महासागर का तल नीचे की ओर
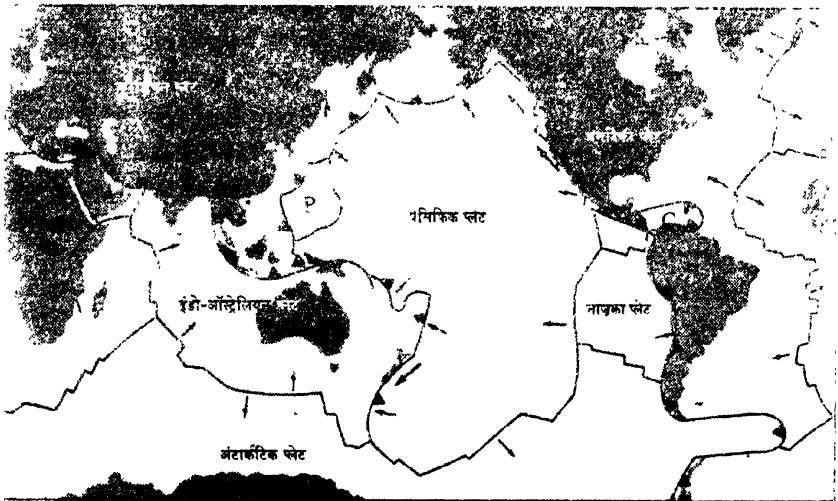
प्लेट और उसकी सीमाएं: ऊपर का चित्र दुनिया में फैली भूकंपीय बैल्ट का है – काले बिन्दु भूकंपों के केंद्र को प्रदर्शित करते हैं। गौर कीजिए भूकंपीय बैल्ट महासागर में काफी हल्की है, वहीं कुछ तटीय किनारों पर जैसे प्रशान्त महासागर के चारों ओर भूकंपीय रेखा काफी घनी है।

नीचे के चित्र में प्लेटों की सीमाएं दर्शाई गई हैं, इस नक्शे को भूकंपीय बैल्टों के आधार पर तैयार किया गया है।

दोनों चित्रों की तुलना कीजिए। जहां-जहां समुद्री रिज हैं आमतौर पर वहां उथले भूकंप आते हैं। परन्तु जहां समुद्री खाइयां हैं – जहां प्लेट नष्ट हो रही है – वे दुनिया के सबसे सक्रिय भूकंपीय क्षेत्र हैं। भूकंपीय तरंगों के अध्ययन से प्लेटों की गति की दिशा के बारे में भी पता चलता है।

आइसलैंड की दरार घाटी: धंसी हुई ज़मीन की पट्टी इस देश को दो भागों में बांटती है। एक यूरोपियन प्लेट है तो दूसरी अमेरिकी प्लेट। चित्र इस घाटी के पश्चिमी सिरे का हवाई फोटो है। दरार के पास उठा हुआ हिस्सा धंसे हुए हिस्से से करीब 40 मीटर ऊंचा है।

आइसलैंड में ऊपर ऐसी कोई गहरी दरार घाटी नहीं दिखाई देगी। बल्कि धंसी हुई ज़मीन की एक पट्टी दिखाई देगी जिसके दोनों तरफ की ज़मीन उसकी तुलना में ऊंची है। यह नीची ज़मीनी पट्टी आइसलैंड को दो भागों में बांटती है। इस तरह आइसलैंड का एक हिस्सा तो अमेरिकन प्लेट से जुड़ा है और दूसरा यूरोपियन प्लेट से।

वैज्ञानिकों ने इस धंसी हुई ज़मीन के दोनों ओर खंभे लगाकर साल-दर-साल उनके बीच की दूरी को नापा और पाया कि इस क्षेत्र में प्लेट बनने की दर करीब चौथाई इंच प्रतिवर्ष है।

हो सकता है कि अब आप सोचें कि आइसलैंड वाले कितने खुशनसीब हैं जो प्लेटों का बनना देख पाते हैं। लेकिन ऐन रिज पर बसे होने का खामियाज़ा यह है कि ज्वालामुखी का विध्वंस उन्हें कभी भी अचानक झेलना पड़ता है। इस धंसी हुई ज़मीन वाले हिस्से में कई ज्वालामुखी हैं, जो लगातार अहसास कराते रहते हैं कि अटलांटिक रिज सक्रिय है।

रिज के साथ साथ भूकंपीय पट्टी भी जुड़ी होती है। ले.कन इन भूकपा का केंद्र काफी उथला होता है।

लेकिन अगर प्लेटों का नया निर्माण

जारी है और धरती का आकार भी बिल्कुल उतना ही है तो इसका सीधा-सा मतलब है कि जिस दर से नया पदार्थ बन रहा है उसी दर से पुराना पदार्थ कहीं नष्ट भी हो रहा है। कहां है वो जगह?

जहां प्लेट डूबती है . . .

सवाल था जापान, इंडोनेशिया, फिलीपींस, पेरू-चिली आदि देशों के तटीय किनारों को लेकर कि ज्वालामुखी, भूकंप और खाई का क्या संबंध?

यह वो जगह हैं जहां एक प्लेट नष्ट हो रही है। प्लेट का पुराना हिस्सा इन्हीं खाइयों से होकर धरती में गहरे उतर जाता है और 'मेन्टल' में मिल जाता है। लेकिन प्लेट इतनी आसानी से नीचे नहीं उतरती बल्कि नीचे जाते हुए झटके देती रहती है। नीचे मेन्टल में मिलने तक यह करीब 700 किलोमीटर का लंबा रास्ता तय करती है। दुनिया में सबसे अधिक गहराई वाले भूकंप इन्हीं क्षेत्रों में रिकॉर्ड किए जाते हैं।

बेनिऑफ ज़ोन: प्लेट इतनी आसानी से नीचे की ओर नहीं जाती। बल्कि महाद्वीप से टकराते हुए नीचे उतरती है। इस प्रक्रिया में डूबती प्लेट की ऊपरी सतह और महाद्वीप के बीच तीव्र घर्षण होता है। इस वजह से इन क्षेत्रों में भूकंप के झटके लगातार आते रहते हैं। इन भूकंपों का केंद्र 60-70 किलोमीटर गहराई से लेकर 700 किलोमीटर की गहराई तक होता है।

अगर इन केंद्रों को उनकी गहराई के अनुसार ग्राफ पर रखें तो प्लेट की ऊपरी सतह के अंदर उतरने का रास्ता या *ज़ोन* समझ में आता है (देखिए तालिका और चित्र)। अमेरिकन भूकंप विज्ञानी ह्यूगो बेनिऑफ ने सबसे पहले इस बात पर गौर किया और आंकड़ों को इकट्ठा किया। उन्हीं के नाम पर इन्हें 'बेनिऑफ ज़ोन' कहा जाता है।

लेकिन तटीय किनारों पर खाइयों के समानान्तर ज्वालामुखी पट्टी क्यों? – तटीय किनारों से इस पट्टी की दूरी नीचे जाने वाली प्लेट के कोण पर निर्भर करती है। तट से यह दूरी 200 से लेकर 500 कि.मी. तक भी हो सकती है – बस ज़रूरी यह है कि डूबने वाली प्लेट तकरीबन 100-120 कि.मी. गहरे उतर चुकी हो। ऐसा क्यों?

बंद खदानों में काम करने वालों को इस बात का अच्छा अनुभव होता है कि ज़मीन में नीचे जाने पर गर्मी बढ़ती जाती है यानी कि ताप बढ़ता जाता है। तो जैसे-जैसे प्लेट नीचे, और नीचे घुसती है वह धीरे-धीरे गर्म होना शुरू होती है। करीब 100 किलोमीटर की गहराई पर ये थोड़ी-सी पिघलने लगती है, इसके साथ महाद्वीपीय प्लेट के निचले हिस्से का कुछ भाग भी पिघलता है। ये पिघला हुआ पदार्थ ऊपर की ओर उठता है और ज्वालामुखी के

विभिन्न प्लेटों के बेनिऑफ ज़ोन

तटीय किनारे	मध्य केंद्र के भूकंप		गहरे केंद्र के भूकंप	
	गहराई (कि.मी. में)	बेनिऑफ ज़ोन की डुबकी	गहराई (कि. मी. में)	बेनिऑफ ज़ोन की डुबकी
कुरिल-कामचेटक आर्क	70-300	34°	300-700	58°
जापानीज़ आर्क	70-400	38°	400-550	75°
इंडोनेशियन (सुंडा) आर्क	70-300	35°	300-700	61°
पेरू-इक्वाडोर	70-250	22°	600-650	47°

विभिन्न प्लेटें किस कोण से नीचे की ओर धंस रही हैं यह खाइयों से जुड़े इलाके में आ रहे भूकंपों के केंद्र द्वारा बनाए जा रहे कोण से पता चलता है। कुछ खाइयों के नीचे प्लेटों की कोणीय स्थिति इस तालिका में दिखाई गई है। नीचे के चित्र में कुरिल-कामचेटक खाई की भूकंपीय गतिविधियों के आधार पर इस क्षेत्र का नक्शा तैयार किया गया है।
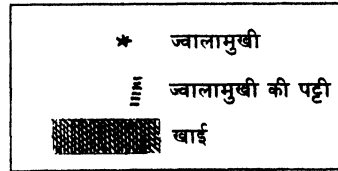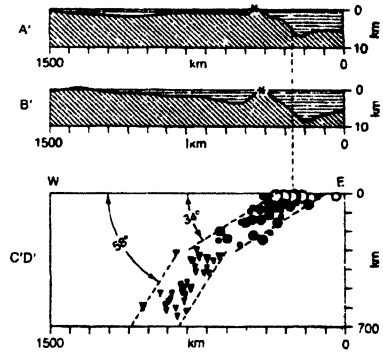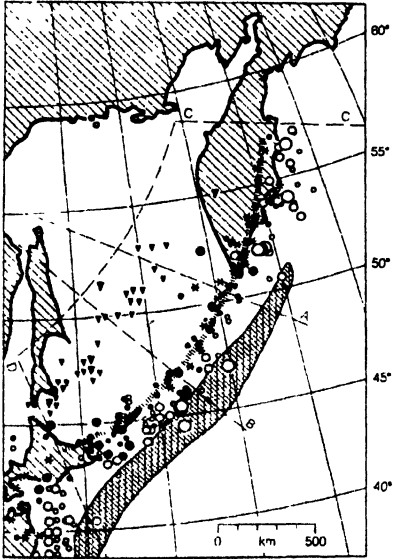
कुरिल-कामचेटक आर्क की बेनिऑफ ज़ोन: इस क्षेत्र में आने वाले भूकंपों के केंद्रों के आधार पर तैयार किया गया नीचे जाती हुई प्लेट का नक्शा। उथले भूकंपों को खाली गोल घेरे से, मध्य गहराई के भूकंपों को भरे हुए गोल घेरे से और सबसे अधिक गहराई वाले भूकंपों को काले भरे हुए त्रिभुजों मे दिखाया गया है। A' और B' नक्शे के A और B लाइन पर खाई की खड़ी काट हैं।

इन भूकंपों के केंद्रों की गहराई के आधार पर कामचेटक (CC) से लेकर उत्तरी जापान (DD) तक फैली खाई के नीचे धंसती प्लेट के ऊपरी सिरे का रास्ता (C'D') या *बेनिऑफ ज़ोन*।
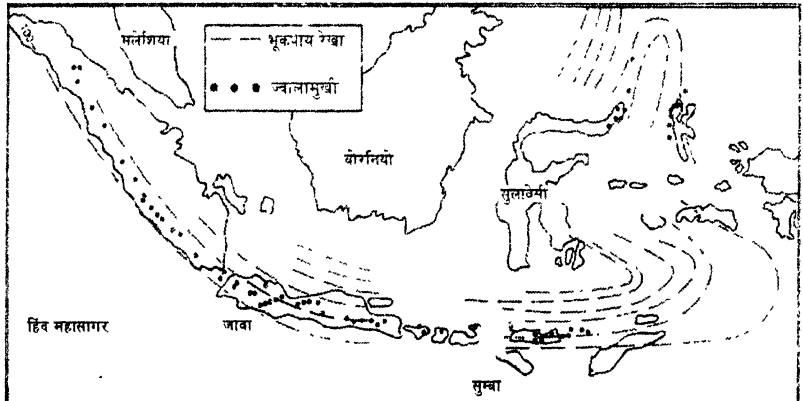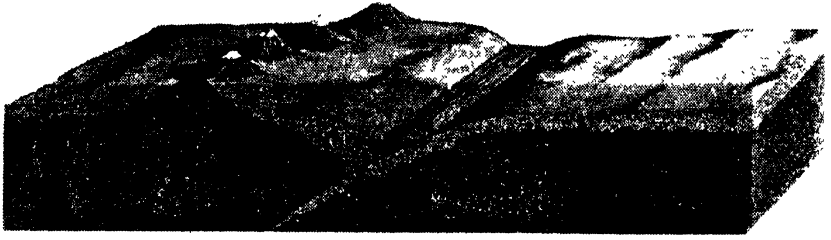
खाई, भूकंप और ज्वालामुखी: इंडोनेशिया द्वीप समूह हिंद महासागर में मौजूद खाई (ocean trench) के ऊपर स्थित है। इस द्वीप समूह में ज्वालामुखियों की कतारें हैं जो महासागर में मौजूद खाई के फैलाव के आकार के अनुसार ऊपर ज़मीन पर मौजूद हैं। यह इलाका भूकंपीय क्षेत्र में आता है। ज़मीन से अंदर की ओर जो लाइनें हैं वे क्रमश: और गहरे भूकंपों को दर्शा रही हैं। ज्वालामुखियों की कतार मध्यम गहराई के भूकंपों की लाइन के बिल्कुल ऊपर से निकल रही है।

जापान, फिलीपींस आदि भी ऐसी ही स्थिति में हैं।

भारत: भारत के करीब स्थित एक और खाई – सुंडा। यही खाई आगे बढ़कर जावा खाई से मिल जाती है। इस पूरी खाई के ऊपर ज़मीन के किनारों पर सक्रिय ज्वालामुखियों की आर्कनुमा बेल्ट है। *ऊपर ज्वालामुखी की कतार और खाई का एक काल्पनिक चित्र।*
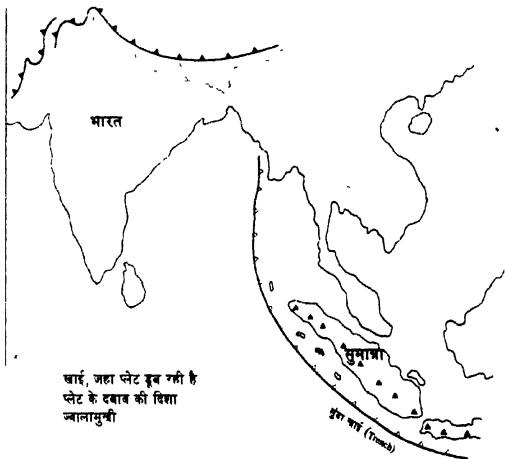
रूप में फूट पड़ता है। इसी कारण खाइयों से लगे तटीय किनारों पर सक्रिय ज्वालामुखियों की वक्राकार पट्टियां मिलती हैं।

जहां प्लेट खिसकती है . . .

फायदों के अलावा नई जानकारी से कुछ घाटा भी हो सकता है, जैसे कि अमेरिका के एक राज्य कैलिफोर्निया में हुआ। यहां के निवासियों को मकान का बीमा करवाने के लिए दूसरे राज्यों के मुकाबले अधिक पैसे खर्च करने पड़ते हैं। क्यों? क्योंकि यह इलाका भूकंपीय पट्टी में आता है।

दरअसल सैन एंड्रिआस फॉल्ट कैलिफोर्निया से होकर गुजरता है। यह फॉल्ट पैसिफिक प्लेट और अमेरिकन प्लेट की सीमा रेखा पर पड़ता है। फॉल्ट दरअसल प्लेट की सीमाओं का एक प्रकार है जहां प्लेट बनती नहीं, नष्ट नहीं होती बल्कि एक-दूसरे के सापेक्ष विपरीत दिशाओं में खिसकती हैं। फॉल्ट के कारण इन क्षेत्रों में भूकंप आते रहते हैं, जिनके केंद्र तो काफी उथले होते हैं लेकिन फैलाव काफी अधिक होता है।

गौर करें तो पाएंगे कि भूकंपीय और ज्वालामुखी गतिविधियां अधिकतर

सैन एंड्रिआस फॉल्ट: पैसिफिक प्लेट के साथ उत्तर [illegible] जुड़ा हुआ है, जो पैसिफिक प्लेट से सटा उत्तर-पश्चिमी दिशा में (पूरे महाद्वीप के सापेक्ष) करीब ढाई इंच प्रति वर्ष की दर से गति कर रहा है। दोनों प्लेटों की यह सीमा अमेरिका के कैलिफोर्निया राज्य से गुजरती है। इसी फॉल्ट के कारण यह इलाका भूकंपीय पट्टी में आता है। कोई भी व्यक्ति यदि धैर्य के साथ पूरी जिंदगी किसी एक प्लेट पर खड़ा होकर देखे तो फॉल्ट के दूसरी ओर के घर उसकी दाहिनी दिशा में करीब चौदह फीट दूर खिसक चुके होंगे। बाईं ओर का चित्र इसी फॉल्ट का फोटो है। जिसमें धरती के इस हिस्से में पैदा तनाव दिख रहा है।

सुपर महाद्वीप पेंजि पहले ऐसा था
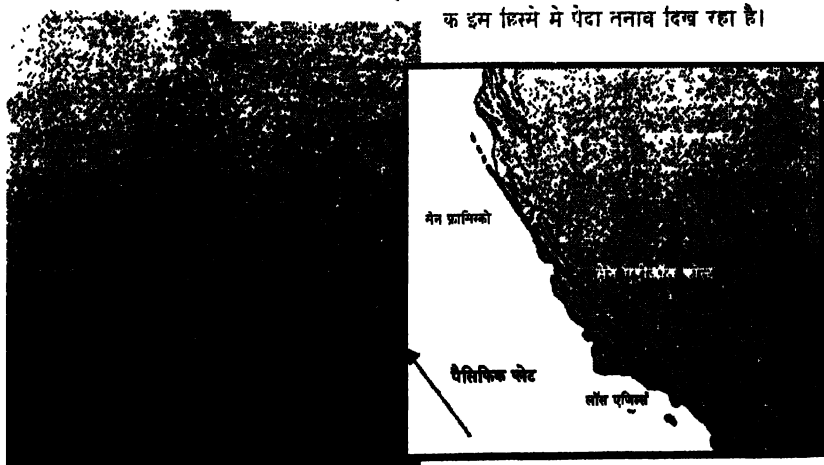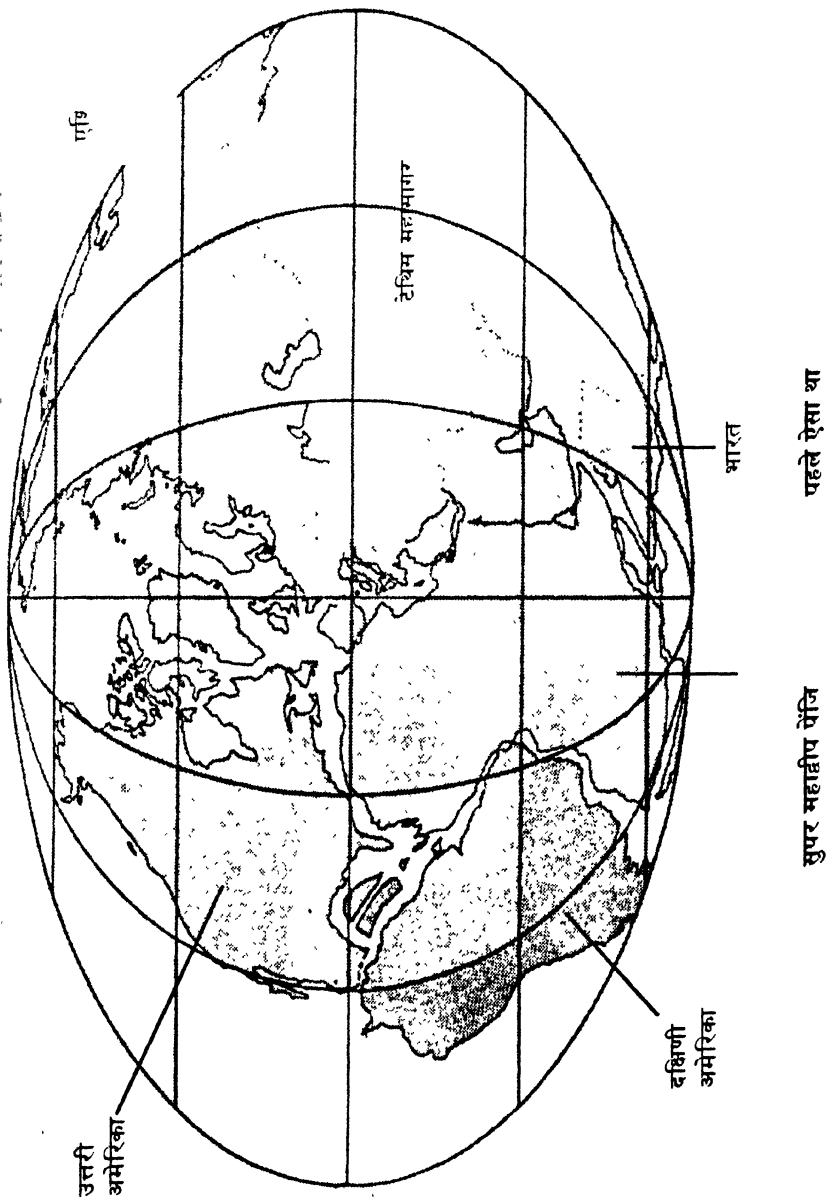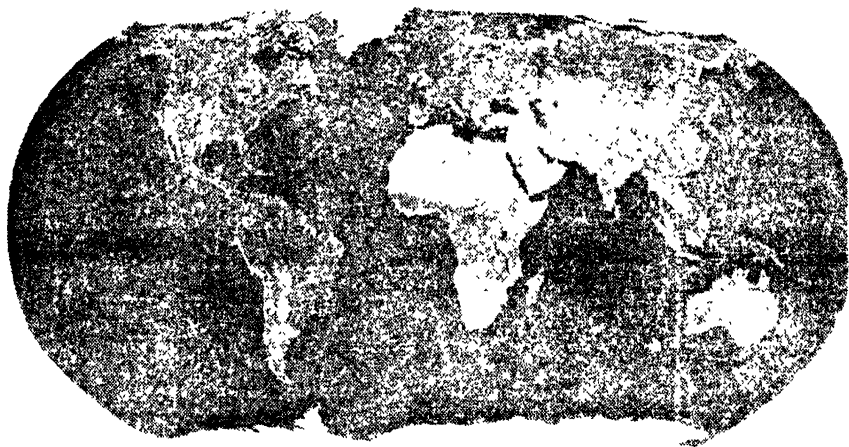
ग्लोब पर आज महाद्वीपों की स्थिति, ज़रा पेंजिआ और इसकी तुलना कीजिए।

प्लेट की सीमाओं पर ही सीमित होती है। भूकंप से पैदा होने वाली तरंगों के विश्लेषण से हमें यह भी पता चलता है कि कौन-सी प्लेट किस दिशा में गति कर रही है। लेकिन फिर भी अभी हम इतना अधिक नहीं जानते कि बता सकें कि भूकंप कब और कहां आएगा और कब, कहां ज्वालामुखी फटेगा। हो सकता है कि आने वाले समय में यह भी बताने की स्थिति में आ जाएं।

जैसे कि आज हम यह बताने की स्थिति मे हैं कि प्लेटें कैसे चलती हैं और महाद्वीप कैसे खिसकते हैं और भूतकाल में कैसे खिसके होंगे।

बीस करोड़ साल पहले

तर्क हों और पर्याप्त सबूत हों तो थ्योरी को मान्यता मिलती ही है। एक बार प्लेटों के नया बनकर आगे खिसकने और खाइयों मे धंसकर नष्ट होने की प्रक्रिया समझ आ गई तो फिर महाद्वीपों के खिसकने को लेकर कोई संदेह नहीं रहा। दुनिया भर के भू-वैज्ञानिक महासागरों में चट्टानों के चुंबकत्व, चुंबकीय पट्टियों की दिशा और अलग-अलग प्लेटों के नया बनने की दर, महाद्वीपों के तटीय आकार आदि के आधार पर दुनिया का पुराना नक्शा बनाने में जुट गए। जो नक्शा बना उसमें 20 करोड़ साल पहले सारे महाद्वीप आपस में मिलकर एक भूभाग बनाते थे। यह सुपर महाद्वीप था पेंजिआ। इस नक्शे को बनाने में कम्प्यूटर से बड़ी मदद मिली।

इस नक्शे में अंग्रज़ी के अक्षर 'वी' (V) के समान एक बड़ा खाली आकार
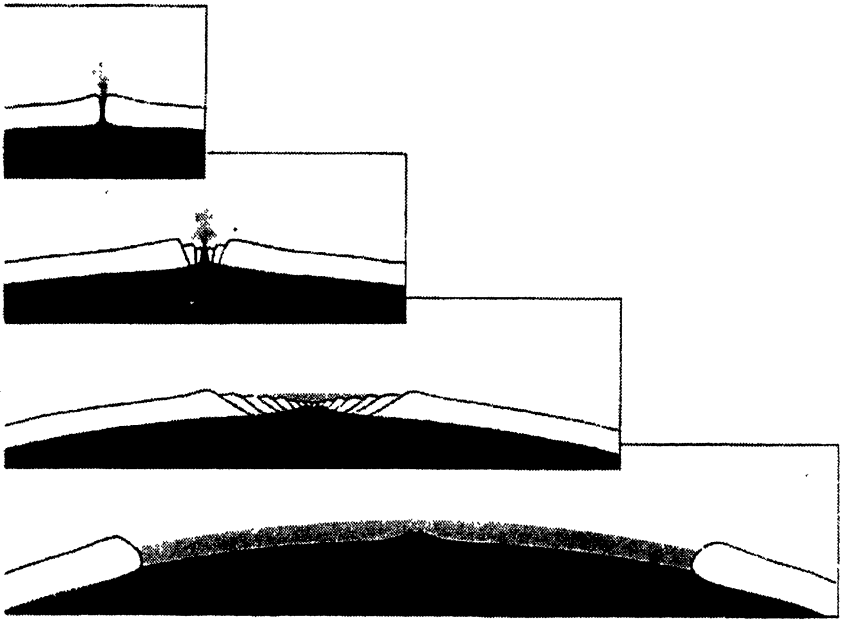
नया समुद्र और समुद्री रिज: नया समुद्र और समुद्री रिज का अस्तित्व महाद्वीपों के ऊपर तब शुरू होता है जब कोई ऐसी दरार पड़ती है जो लगातार फैलती जाती है। इस वजह से दरार के आसपास की ज़मीन नीचे धसकनी शुरू हो जाती है; और महाद्वीप दो हिस्सों में टूटता जाता है। इधर इस दरार को भरने के लिए नीचे से गर्म पदार्थ भी ऊपर आना शुरू होता है। धीरे-धीरे महाद्वीप के टुकड़े एक दूसरे से दूर होते जाते हैं। बीच की जगह में पानी भर जाता है और इस तरह एक नया उथला समुद्र बन जाता है। जैसे-जैसे ये टुकड़े और दूर होते हैं समुद्र और चौड़ा होता जाता है। इस तरह जहां पहले महाद्वीप था अब एक लंबा चौड़ा समुद्र बन जाता है। और बीच समुद्र में होती है वो दरार (रिज) जिसका जन्म ऊपर महाद्वीप में हुआ था।

दिख रहा है। यह टेथिस महासागर था। इसकी ऊपर वाली बाजू पर एशिया है और नीचे की बाजू अंटार्कटिका और ऑस्ट्रेलिया के साथ भारत पड़ा हुआ है। इस पेंजिआ के ऊपर वाले हिस्से में एशिया, उत्तरी अमेरिका आदि मिलकर लॉरेशिया बनाते हैं और नीचे वाला हिस्सा जिसमें भारत भी शामिल है गौंडवाना लैंड कहलाता है। यह नाम भारत के ही एक भूभाग के आधार पर रखा गया है।

ज़ाहिर है कि सुपर महाद्वीप तभी टूटेगा जब उसमें कोई दरार पड़े। और जब भी कोई दरार पड़ती है उसके साथ लावा नीचे से ऊपर आता है। लावा के आधार पर पृथ्वी पर घटी पिछली घटनाओं की उम्र और समय निकालने में बड़ी मदद मिलती है।

इन्हीं सारे तथ्यों के आधार पर अनुमान लगाया है कि करीब 19 करोड़ साल पहले यह दरार पड़ी मेक्सिको की खाड़ी के साथ उत्तरी अमेरिका और अफ्रीका के बीच। इसके बाद एक-एक करके महाद्वीप पेंजिआ से अलग होते गए। दक्षिण अमेरिका अफ्रीका के एक तरफ से अलग हुआ तो अंटार्कटिका दूसरी तरफ से। टूटन की सबसे आखिरी कड़ी थी उत्तरी अमेरिका का यूरोप से अलग होना और नीचे ऑस्ट्रेलिया का अंटार्कटिका से अलग होना।

भारत की गति

इस पूरे दौर में भारत की यात्रा काफी महत्वपूर्ण मानी जाती है। सारे महाद्वीपों की तुलना में इसी ने सबसे लंबी यात्रा की – करीब सात हज़ार किलोमीटर की। कहां यह नीचे अंटार्कटिका क्षेत्र में पड़ा हुआ था और आज कहां भूमध्य रेखा के थोड़ा-सा ऊपर है। इस यात्रा में इसने टेथिस महासागर को पार किया। जैसे-जैसे भारत आगे बढ़ता गया टेथिस महासागर का तल नष्ट होता गया और पीछे हिंद महासागर खुलता गया।

करीब साढ़े पांच करोड़ साल पहले दोनों महाद्वीपों की टक्कर हुई। यह बड़ी ज़ोरदार थी। इसी का परिणाम

भारत और यूरेशिया की टक्कर: पेंजिआ से अलग होने के बाद समय के साथ भारत की बदलती स्थितियां। *(समय करोड़ साल में)*
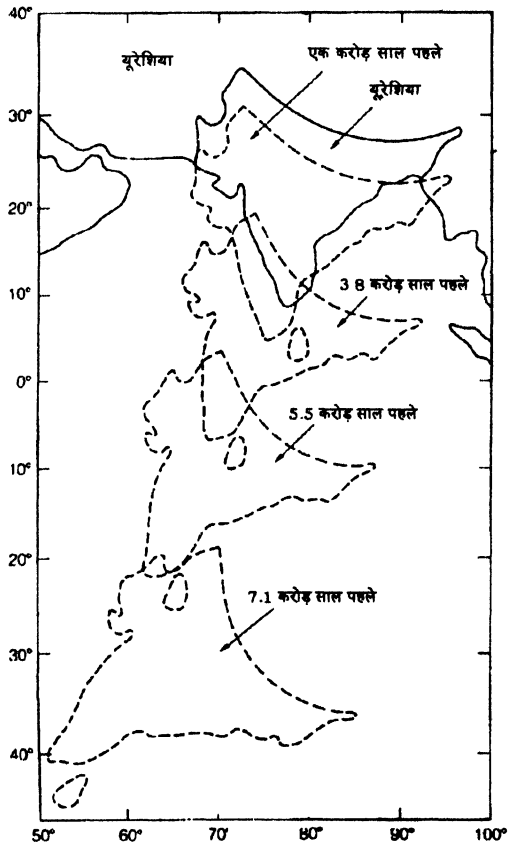
है दुनिया की सबसे ऊंची पर्वत शृंखला – हिमालय, और उसके पीछे स्थित दुनिया का सबसे ऊंचा पठार – तिब्बत। ये टक्कर अभी खत्म नहीं हुई है। भूवैज्ञानिकों का मानना है कि भारत की तरफ से अभी भी दबाव बना हुआ है। इस तरह प्लेट टेक्टोनिक्स थ्योरी की बदौलत तलछटी चट्टानों का ऊपर उठना समझाया जा सकता है। वैसे गोंडवाना के अलग-अलग टुकड़ों की यूरेशिया से टक्कर काफी ज़ोरदार रही है। इसके कारण पहाड़ी शृंखलाओं का निर्माण हुआ जो स्पेन से लेकर चीन तक फैली हुई हैं।

तो ये थी महाद्वीपों के खिसकने की कहानी। लेकिन इस पूरे इतिहास में यह सवाल तो छूट ही गया कि प्लेटें चलती क्यों हैं?

हालांकि उलझनें तो अभी भी कई हैं लेकिन एक सिद्धांत को लेकर वैज्ञानिकों के बीच सर्वमान्यता है। वो है 'संवहन धाराओं का चलना'।

सरल भाषा में कहें तो इस सिद्धांत के अनुसार पदार्थ का वितरण कन्वेयर बेल्ट जैसी संवहन धाराओं के द्वारा हो रहा है – जिसमें गर्म पदार्थ ऊपर उठ रहा है, महासागरों की सतह के समानान्तर फैल रहा है, ठंडा हो रहा है। और फिर वापस नीचे की ओर उतर रहा है।

तो प्लेटों के खिसकने के साथ ही मैं इस पन्ने से खिसकूं, इसके पहले आइए यूं ही एक नज़र देख लें प्लेट टेक्टोनिक्स को फिर से, चंद लाइनों में. . .।

धरती के भीतरी भाग में बनती संवहन धाराएं। जिनकी वजह से पदार्थ कन्वेयर बेल्ट के समान घूमता रहता है।
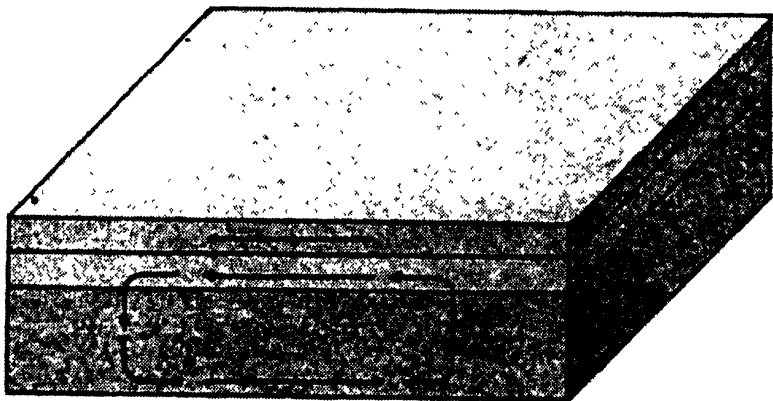
टेक्टोनिक्स चलते-चलते . .

पृथ्वी का करीब चालीस मील मोटा बाहरी आवरण काफी कड़ा है। यह कई जगह से चटका हुआ है। चटके हुए भाग प्लेट की सीमा रेखाएं हैं। लगभग सारी-की-सारी भूकंपीय गतिविधियां प्लेटों की सीमाओं पर सिमटी हैं। ये प्लेटें गतिशील हैं। महाद्वीप इन प्लेटों पर सवारी करते हैं।

प्लेटों के बीच बिल्कुल भी खाली जगह नहीं रह सकती। पृथ्वी पर कोई भी ऐसी गहरी दरार नहीं है जो चालीस मील गहरी हो। ये प्लेटें आपस में फंसी हुई हैं।

कोई भी प्लेट एक-दूसरे के सापेक्ष खिसकना शुरू कर सकती है। ऐसी स्थिति में पृथ्वी के भीतर से पिघला पदार्थ आकर तुरंत इस बीच की खाली जगह को भर देता है। जैसा कि 'समुद्री रिज' में होता है। कोई भी प्लेट दूसरी प्लेट पर बहुत अधिक चढ़ाई नहीं कर सकती इसलिए जब भी विपरीत दिशा में गति करती दो प्लेटें मिलती हैं या टकराती हैं तो एक नीचे मुड़कर गर्भ में समा जाती है।

ऐसी जगहों पर गहरी खाइयां बन जाती हैं। अगर किसी एक प्लेट पर महाद्वीप सवार हो तो नीचे जाने वाली प्लेट हमेशा महासागरीय ही होगी; क्योंकि महाद्वीप का पदार्थ महासागरीय प्लेट के मुकाबले हलका है इसलिए डूब नहीं सकता। इसीलिए अगर दोनों प्लेटों पर महाद्वीप सवार हैं तो भिड़ंत के बाद महाद्वीपीय पदार्थ ऊपर उठकर पर्वत शृंखलाएं बना लेता है।

इस प्रक्रिया में ये अपने समुद्र में जमा तलछट और अन्य पदार्थों को भी ऊपर ले जाता है। प्लेटें नई बनती और टकराती ही नहीं बल्कि एक-दूसरे के सापेक्ष विपरीत दिशा में भी खिसकती हैं। इन सीमाओं को 'फॉल्ट ज़ोन' कहते हैं।

महाद्वीपों की टक्कर की बात बार-बार सुनकर कहीं ऐसा लगता है न कि दो कारें या ट्रक आपस में टकरा रहे हों।

कल्पना कीजिए लेकिन अत्यंत *स्लो मोशन में।* जब प्लटों पर सवार महाद्वीप टकराते हैं तो पूरा दृश्य कुछ इस प्रकार होता है कि पहले तो वे आपस में मिलते हैं, बहुत ही हल्के से। लेकिन वे यहां रुकते नहीं बल्कि बढ़ते जाते हैं आगे, और बीच का समुद्र पूरी तरह निचुड़-सा जाता है और उसका अस्तित्व खत्म हो जाता है। जैसे कि भारत और यूरेशिया की टक्कर में टेथिस का हुआ। और ये पूरी प्रक्रिया खत्म होती है करोड़ों साल में। इतनी धीमी प्रक्रिया की बस सोचते जाइए।

आमोद कारखानिसः कम्प्यूटर विज्ञानी; शौकिया चित्रकार; बंबई में रहते हैं।

. . .कला को अन्य विषयों से फर्क विषय के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसे स्कूली पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग होना चाहिए. . . कला और विज्ञान दोनों के ही आधार – जानने की इच्छा, खोजबीन और लगातार नए-नए प्रयोग करते रहना है। कला, बच्चे की कल्पना और सृजनात्मकता को मौखिक और लिखित रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता को जगा सकती है।

बच्चों के चित्र क्या बताते हैं हमें

कैरन हैडॉक

सेब और संतरों के रेखा चित्रों में रंग भरने के अलावा किसी अन्य चीज़ के काबिल नहीं होते। इसीलिए उनसे यही करने को कहा जाता है।

जब भी कोई कलात्मक चित्र माता-पिता को आकर्षित करता है तो उनकी भी इच्छा होती है कि उनका बच्चा भी वैसा ही चित्रण सीख जाए। या फिर जब वे अपने बच्चे को मज़े से चित्र बनाते या रंगते हुए देखते हैं तो चाहते हैं कि चित्र बेहतर बने। तो फिर वे क्या करते हैं? वे शायद कोई 'टीचर' खोजते हैं जो उनके बच्चे को चित्र बनाना सिखा दे। या फिर बच्चा स्कूल में चल रही कला शिक्षा पर ही निर्भर होता है।

आमतौर पर स्कूलों में यह माना जाता है कि बहुत छोटे बच्चे तो केवल

शिक्षक चित्रों का मूल्यांकन मूलतः इस आधार पर करता है कि रंग कितनी सफाई से भरे गए हैं, रंग रेखाओं के बाहर तो नहीं निकले और समान रूप से तो भरे गए हैं। इसी तरह बड़ी कक्षाओं में छात्रों को शिक्षक द्वारा बनाया गया चित्र दिखाया जाता है और उनसे इसकी नकल उतारने को कहा जाता हैं। आमतौर पर शुरुआत होती है सेब या आम से (वैसे शुरुआत सेब से होगी कि आम से यह शायद इस बात पर निर्भर करता है कि स्कूल हिंदी माध्यम का है या अंग्रेज़ी माध्यम
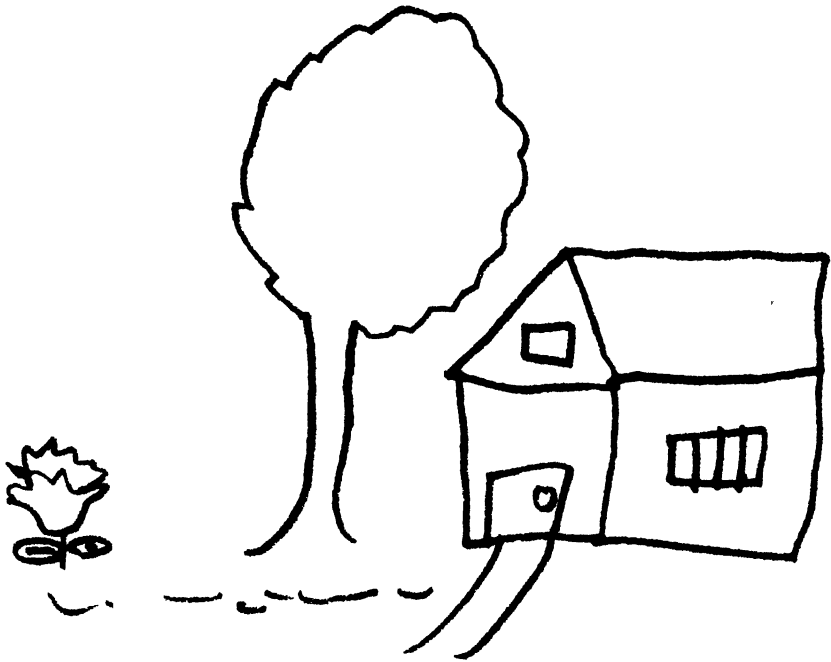
यह चित्र बनाते समय बच्चे को कुछ भी नहीं सोचना पड़ा। जैसा कि उसे पढ़ाया गया था उसने पेड़ और मकान के चित्र की नकल उतार दी। इस चित्र में खुद की अभिव्यक्ति की मात्रा लगभग नहीं के बराबर है। इसे कोई बहुत बढिया चित्र नहीं कहा जा सकता।

का)। फिर पेड़, तिकोने पहाड़ों के बीच से झांकते हुए सूरज और मकान के चित्रों की ओर बढ़ते हैं या फिर नदी और नावें या सूर्यास्त की ओर। चित्र बना रहे छात्रों को लगातार डांटा जाता है और उन्हें चुपचाप बैठे रहने के लिए कहा जाता है (इन धमकियों को जहां तक हो सके वे अनसुना करते हैं)।

छात्रों और शिक्षकों के बीच बातचीत लगभग ऐसी शिकायतों तक ही सीमित रहती है – 'बहिनजी, मैं यह नहीं बना सकती, क्या आप मेरे लिए इसे बना देंगी?' या फिर 'ऐसे नहीं, इस प्रकार करो!' फिर शिक्षिका छात्र को उसके कागज़ पर बनाकर दिखाती है कि सही चित्र कैसे बनना चाहिए। और अंत में कई विद्यार्थी कुछ हद तक साफ सुथरी नकल तैयार कर पाने में सफल हो जाते हैं।

पर क्या इसे सफलता कहते हैं? बच्चे के चित्रों का मूल्यांकन किस प्रकार होना चाहिए? और स्कूलों में इस तरह के जो कला सिखाने के पाठ बच्चों को
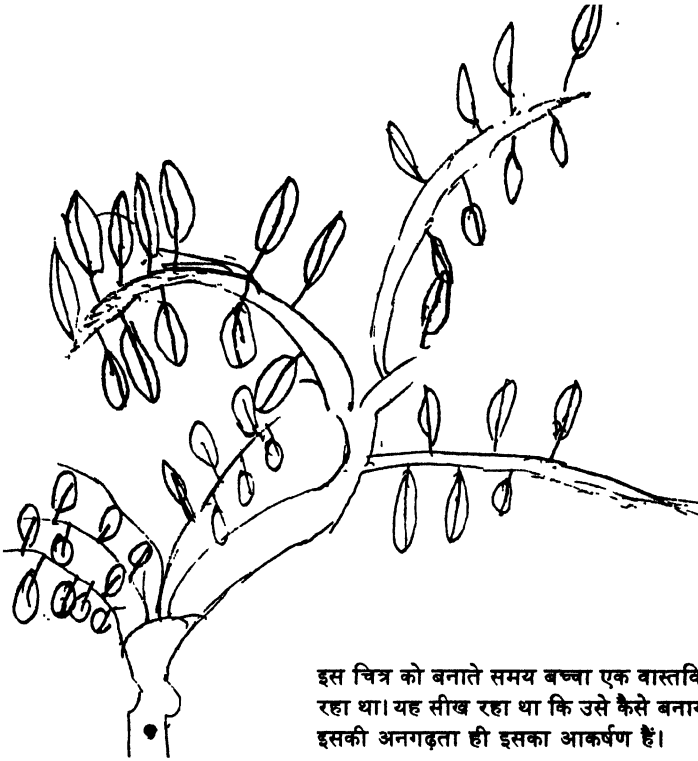
इस चित्र को बनाते समय बच्चा एक वास्तविक पेड़ को देख रहा था। यह सीख रहा था कि उसे कैसे बनाया जाए। शायद इसकी अनगढ़ता ही इसका आकर्षण हैं।

दिए जाते हैं उनका अर्थ और तुक क्या है?

यहां बच्चों द्वारा बनाए गए दो चित्र दिए गए हैं, उन्हें आप देखिए। इनमें से कौन-सा आपको अधिक पसंद है? क्या इनमें से कोई भी चित्र आपको उसकी अद्‌भुतता का अहसास कराता है या उसे एक बार फिर से देखने की इच्छा जगाता है?

क्या चित्र जीता-जागता है और बच्चे के व्यक्तित्व, उसकी रुचियों या संस्कृति के बारे में कुछ कहता है? आपको क्या लगता है कि बच्चों के दिमाग में चित्र बनाते समय कैसे विचार उठ रहे होंगे? चित्रण का उद्‌देश्य क्या रहा होगा? क्या बच्चों को चित्र बनाते हुए मज़ा आया होगा? क्या इस प्रक्रिया के दौरान उन्होंने कुछ सीखा होगा?

यह तो स्पष्ट है कि बच्चों से ऐसे चित्र बनाने की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए जो बिल्कुल फोटो के सामान

दिखें। इसके लिए तो हमारे पास कैमरा उपलब्ध है। (वैसे कम्प्यूटर द्वारा पैदा विशेष प्रभावों के चलते आज की दुनिया में फोटो भी वास्तविकता दिखाने तक ही सीमित नहीं हैं)। हम यह चाहेंगे कि चित्रों में कुछ नया और अनूठा दिखे – बच्चे की अपनी अभिव्यक्ति, उसके अपने व्यक्तित्व और समुदाय की छाप। चित्र एक सामाजिक या राजनैतिक संदेश दे सकता है, कहानी सुना सकता है, कोई भाव या किसी स्मृति को दर्शा सकता है, भावनाओं को व्यक्त कर सकता है या फिर बीते हुए वक्त की कोई बात सामने ला सकता है। यहां तक कि एक बच्चा जो कि कागज़ पर मोमिया रंगों को चलाना सीख रहा हो, यह सभी बातें कला के माध्यम से अभिव्यक्त करना भी सीख सकता है।

कई लोग ऐसा समझते हैं कि कला स्कूली पाठ्यक्रम का एक फालतू हिस्सा है। वैसे भी कितने छात्र चाहते हैं कि वे कल्पनाशील कलाकार बनें और उन्हें इसके लिए मौके भी कितने मिलते हैं? विशेषत: आज, व्यवसायिक पाठ्यक्रमों की दुनिया में, कला क्या कोई कैरियर है? विज्ञापन जैसी व्यवसायिक कला की तो बात ही फर्क है, लेकिन हम यहां सृजनात्मक कला की बात कर रहे हैं।

वास्तव में यह बेहद ज़रूरी है कि सृजनात्मक कला गतिविधियां, स्कूली शिक्षा का एक अभिन्न अंग हों, क्योंकि ये बच्चे के समग्र विकास में काफी सहायक होती हैं। ऐसी गतिविधियों में मानसिक कौशलों, शारीरिक दक्षताओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति का समन्वय होता है।

कला को अन्य विषयों से फर्क विषय के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसे स्कूली पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग होना चाहिए। वैसे देखें तो वास्तव में कला एक विषय नहीं है, बल्कि सृजनात्मक रूप से काम करने का ढंग है। इस रूप में कला और विज्ञान में कई समानताएं हैं। विज्ञान दुनिया को देखने और समझने का एक नज़रिया है। कला और विज्ञान दोनों के ही आधार – जानने की इच्छा, खोजबीन और लगातार नए-नए प्रयोग करते रहना है। कला, बच्चे की कल्पना और सृजनात्मकता को मौखिक और लिखित रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता को जगा सकती है। एक चित्र, नई कविता या कहानी की प्रेरणा बन सकता है। या एक कहानी, चित्र बनाने के लिए प्रेरित कर सकती है।

बच्चों को जब कोरे कागज़ पर चित्र बनाने के लिए कहा जाए तो वे समझ नहीं पाते कि क्या करें। यदि उन्हें यह कहा जाए कि माता-पिता द्वारा सुनाई गई कहानी के बारे में चित्र बनाएं तो वे ऐसा करने के लिए जल्द ही प्रेरित हो जाते हैं।

हमारे बच्चों के पहले-पहले चित्र उन फूलों के क्यों हों, जिन्हें उन्होंने कभी देखा ही नहीं है? यदि उन्हें घर का चित्र बनाना है तो, वह ऐसा घर क्यों हो जो उन्होंने कभी नहीं देखा? क्या यह बात अधिक मायने नहीं रखती कि बच्चे वही चित्रित करें जो उनके अपने जीवन में महत्वपूर्ण है?

यह अपेक्षा कतई नहीं होनी चाहिए कि बच्चे बड़ों की तरह चित्र बनाएं – उनकी अभिव्यक्ति ऐसी होनी चाहिए जैसे वे हैं – यानी बच्चे, न कि वयस्क। मैं तो 6 वर्षीय बच्चे के मेज़ के चित्रण में एक जीती-जागती मेज़ देखना चाहूंगी, जिसकी चारों टांगे भिन्न-भिन्न दिशाओं में हों न कि ध्यानपूर्वक बनाई हुई सही 'मेज़ लगने वाली मेज़।'

अपने सोचने और पढ़ाने के तरीकों को बदल पाना तो मुश्किल है पर कुछ सरल सुझावों को मानने से बच्चों की कला सीखने की प्रक्रिया में काफी प्रगति हो सकती है।

कला सीखने वाले बच्चों के लिए महत्वपूर्ण शिक्षा है – *नकल मत करो।* इतना ज़रूर है कि शिक्षक समय-समय पर कला के कुछ उदाहरण दिखा सकते हैं, लेकिन बच्चों द्वारा चित्र बनाना शुरू करने से पहले ही इन्हें हटा दिया जाना चाहिए। समय-समय पर कोई वास्तविक वस्तु जैसे कि कोई खिलौना, किसी भी फल का टुकड़ा, कोई घर या व्यक्ति आदि दिखाकर चित्र बनाने को कहा जा सकता है। (लेकिन वस्तु का चित्र दिखाकर उसकी नकल करने को हरगिज़ नहीं कहा जाना चाहिए।) यह बच्चों की सृजनात्मकता को बढ़ावा देगा और अपने तरीके से उन्हें दर्शा पाने के तरीके खोजने के लिए प्रेरित करेगा।

बच्चों को लगातार याद दिलाते रहना चाहिए कि वे नकल न करें बल्कि ऐसे चित्र बनाएं जो नए हों और भिन्न-भिन्न हों।

एक मशविरा शिक्षकों के लिए: जो चित्र बच्चे बना रहे हैं उन्हें खुद पूरा नहीं करें। बच्चे अगर आग्रह करें तो भी मना कर दें – *हमेशा।* अगर बच्चे कहें कि वे चित्र बनाना नहीं जानते तो उन्हें यह देखने में मदद करें कि कोई वस्तु कैसी दिखती है और उन्हें वैसी ही बनाने को कहें। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को दिखाते हुए कह सकते हैं कि, "उसके बालों को देखो। क्या ये सीधे हैं या इस ओर या उस ओर ढलक रहे हैं? देखो कान के ऊपर से लट किस तरह से जा रही है, मुझे बनाकर दिखाओ।" या, "आंख कहां है? अंगूठे के ऊपर है या एक ओर? क्या तुम हाथ की पांचों अंगुलियां देख सकते हो?"

बच्चों को छूट दें ताकि वे अपने आप ही अभिव्यक्त कर पाएं, जिसमें
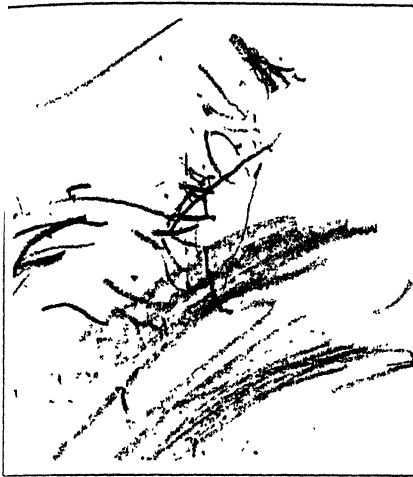
1.
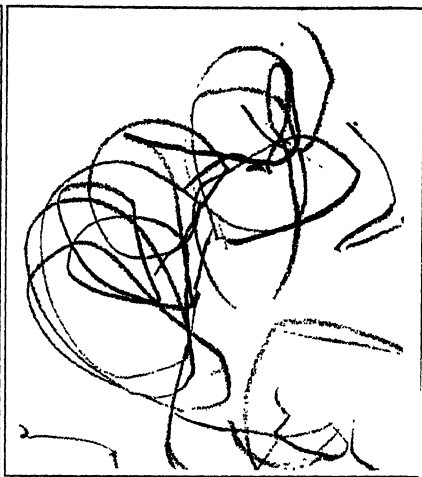
2.

सीखने के कदम: 1. कागज़ पर बच्चे की पहली घिचपिच 2. उसके चित्रों में अब घुमावदार गतियां दिखने लगी हैं।

उन्हें मज़ा आएगा और वे चित्र बिना 'बताए' या 'सिखाए' बना पाएंगे।

एक सुझाव माता पिता के लिए: अपने बच्चों को बहुत सी कला-सामग्री दीजिए और उन्हें इच्छानुसार इसका इस्तेमाल करने दीजिए। रंग भरने वाली किताबों को दूर ही रखें। क्योंकि ये सृजनात्मकता को बढ़ावा नहीं देतीं। कोई ज़रूरी नहीं कि कला-सामग्री महंगी, चमक-दमक वाली या भड़कीली हो। *बल्कि छोटे बच्चों के लिए तो सस्ती और पर्याप्त रूप में उपलब्ध सामग्री, महंगी और थोड़ी-सी सामग्री से कहीं अधिक अच्छी है।*

ऑफिस या घर में इस्तेमाल हुए कागज़ जिनमें कुछ जगह बची हो, संभाल कर रखें। यहां तक कि पुराने अखबारों पर भी चित्र बनाए जा सकते हैं। डेढ़ से दो वर्ष की उम्र के बच्चों को गोदने में रूचि होने लगती है। उन्हें मोमी रंग दें। उन्हें प्रोत्साहन दीजिए पर निर्देश देने की कोशिश न करें।

वे स्वयं ही अपने लिए उत्तम शिक्षक हैं। शुरुआत में उनके चित्र कुछ ऐसे–वैसे ही लगेंगे पर, उनकी प्रगति पर ध्यान दें कि कैसे बच्चा कागज़ पर बेतरतीब, अनियंत्रित, घिच-पिच से शरू होकर गहरी ऊंची-नीची लकीर बनाता हैं; फिर घुमावदार वक्रों से पूरे गोले बनाने लगता है।

कुछ माता-पिताओं ने यह पाया है कि घर की दीवारों पर अखबार के
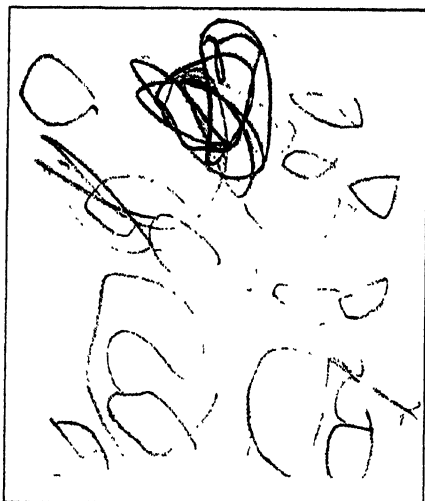
3.
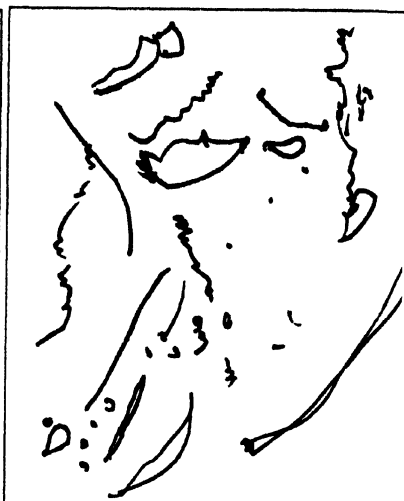
4.
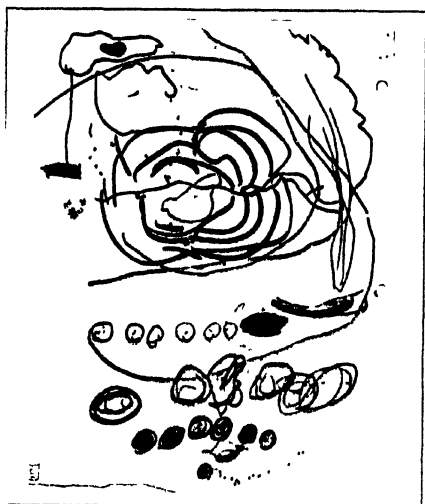
5.
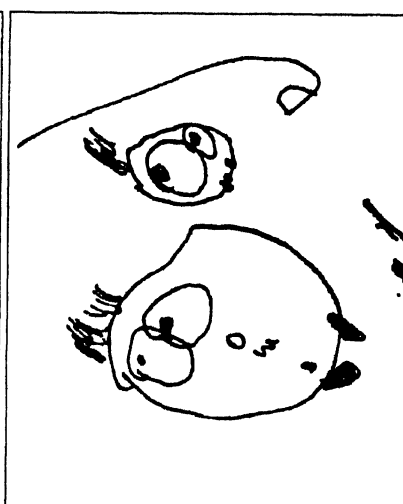
6.

7.
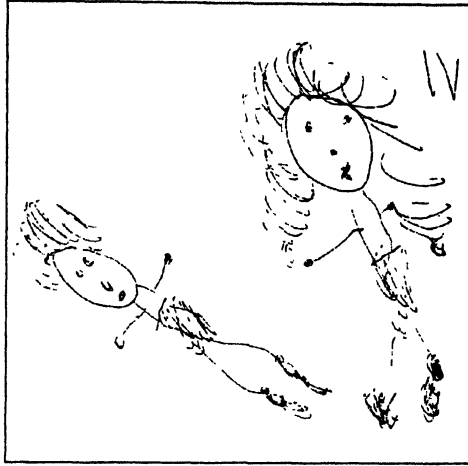
अगले कदम: 3. बच्चा अब गोल, घुमावदार गोले बना पा रहा है; 4. गोले, रेखाएं, उतार-चढ़ाव व बिन्दुओं का मिला-जुला उपयोग जो चीज़ों के उसके अपने प्रतीक चिन्ह हैं; 5. अब उसने चित्रों की सहायता से किसी कहानी को कहना शुरू कर दिया है। चित्र में बिना शरीर के चेहरे दिखने लगे हैं; 6. हाथ और पैर सीधे चेहरे से निकलना शुरू हो रहे हैं, बिना धड़ के; 7. साफ-साफ समझ आ रहे चेहरा, धड़, हाथ और पैर चित्र में दिख रहे हैं।

पन्ने या बड़े-बड़े कागज़ चिपका देने से बच्चों को अपनी अभिव्यक्ति के लिए जगह भी मिल जाती है, और दीवारें भी सुरक्षित रहती हैं। दो साल की उम्र में बच्चे सुरक्षित ढंग से कैंची (जो तेज़ धार वाली न हो) का इस्तेमाल सीख जाते हैं।

स्वाभाविक है कि घर को बुरी तरह कटने और रंगने से बचाने के लिए कुछ अनुशासन ज़रूरी है। अच्छा होगा कि जल्दी ही उन्हें यह समझा दिया जाए कि कुछ चीज़ों जैसे किताबों पर निशान लगाना, उन्हें मोड़ना या काटना नहीं करना चाहिए। (विभिन्न मौकों पर स्पष्ट और गंभीर स्वर में कही गई बात, एक थप्पड़ से ज़्यादा असरदार होती है)। जब तक बच्चे गोले बनाने और प्रतीकात्मक चिह्न बनाना शुरू नहीं कर देते तब तक उन्हें चित्र बनाने के लिए निर्देश देने या मार्गदर्शन करने का कोई औचित्य नहीं है। वे बड़ी सहजता से अपने चिह्नों को इंसानों और चीज़ों के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करने लगेंगे। इस दौरान बच्चे चित्र बनाते हुए कहानियां सुनाना और बातचीत करना भी शुरू कर देंगे।

आपका शुरुआती मार्गदर्शन इसी तरह का हो सकता है कि आप उन्हें

प्रोत्साहित करें, उनसे ऐसे सवाल करें जो उन्हें अपने काम के बारे में सोचने का मौका दें, अपने प्रतीकों के बारे में आपको समझा सकें।

शायद कला के संदर्भ में सबसे उपयोगी मार्गदर्शन होता है – *मार्गदर्शन न करें*। बच्चों को जैसे वे चाहें वैसे चित्र बनाने दें। जिस दिशा में वो जा रहे हों उस तरफ जाने के लिए प्रोत्साहित करें।

.सकारात्मक प्रतिक्रिया दें। मौके दिए जाएं तो बच्चे स्वयं को सिखाते हैं, कैसे, ये देखकर आप खुद हैरान रह जाएंगे।

बच्चे की कल्पनाशील चित्रकारी का एक उदाहरण।

कैरन हैडॉक: स्वतंत्र चित्रकार, चंडीगढ़ के एक स्कूल में अध्यापक, बायोफिज़िक्स में डॉक्टरेट।
अनुवाद: प्रीति जोशी: लेडी इरविन कॉलेज, दिल्ली के डिपार्टमेंट ऑफ चाइल्ड डिवेलपमेंट में व्याख्याता।

ज़रा सिर तो खुजलाइए

पिछले अंक में पूछा गया सवाल: *एक गिलास को करीब आधा पानी से भरकर उसमें कॉर्क डालें तो वह तैरने लगता है। परन्तु बीच में न रहकर किनारे से सट जाता है। आपको बताना है कि बिना कॉर्क को छुए क्या करें कि कॉर्क किनारे से सटकर तैरने की बजाए बीच में तैरे?*

बहुत ही आसान है इसका जवाब – एक दूसरे गिलास से इस कॉर्क वाले गिलास में अत्यन्त सावधानी पूर्वक पानी धीरे-धीरे उड़ेलिए। ऐसा करते-करते कॉर्क वाला गिलास पानी से भर जाएगा यानी पानी गिलास के किनारों तक आ जाएगा। उसके बाद भी उसमें पानी उड़ेलते रहिए। अब ड्रॉपर की मदद लेना बेहतर होगा क्योंकि झटका बिल्कुल भी नहीं लगना चाहिए। धीरे-धीरे कॉर्क वाले गिलास के पानी का तल बाहर ऊपर की ओर निकल आएगा और ऐसी स्थिति में कॉर्क किनारे से सरककर बीच में आ जाएगा।
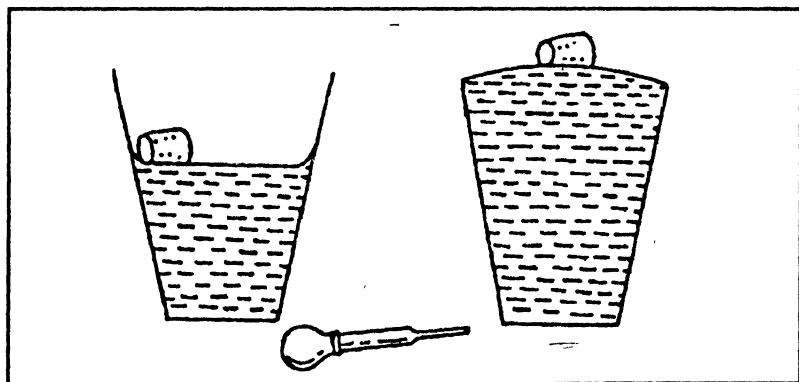
इसी सवाल का एक और हल सुझाया है गांधी विद्यापीठ, वेडछी, सूरत से वसंत वड़वळे ने : *गिलास के किनारे के नज़दीक साबुन का स्पर्श करके कॉर्क बीच में रखने से वह बीच में तैरेगा।*

इस बार 'ज़रा सिर तो खुजलाइए' पृष्ठ नंबर 85 पर

एकलव्य के प्रकाशन

खिलौनों को तोड़ने और जोड़ने में ही बच्चों को सबसे ज़्यादा मज़ा आता है। बच्चे हमेशा किसी-न-किसी खोजबीन में व्यस्त रहते हैं। वे इधर-उधर का कबाड़ इकट्ठा कर उससे कुछ-न-कुछ रचनात्मक बनाते ही रहते हैं। आसपास बिखरी माचिस की डिब्बी, कागज़, धागे की खाली गिट्टी, पुरानी चप्पल आदि जैसी चीज़ों से कुछ बनाकर विज्ञान के प्रयोग करने और समझने की किताबें।

प्रत्येक का मूल्य 10 रुपए
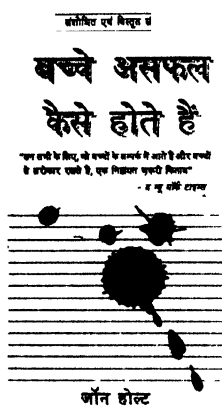
"बच्चे सीखने, समझने के अपने जन्मजात सामर्थ्य का केवल एक छोटा-सा भाग ही स्कूलों में विकसित कर पाते हैं, जबकि जीवन के दो-तीन प्रारंभिक वर्षों में वे इस सामर्थ्य का भरपूर उपयोग करते रहे थे। यह असफलता बच्चों में क्यों आती है? इसलिए, क्योंकि वे डरते हैं, ऊबते हैं और भ्रमित रहते हैं।
उनके मन में सबसे बड़ा भय होता है अपने आस-पास के वयस्कों को निराश और नाराज़ करने का।"

(किताब का एक अंश)

प्रसिद्ध शिक्षाविद जॉन होल्ट की किताब 'हाउ चिल्ड्रन फेल' का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ संख्या: 283.

50 रु. (पेपर बैक), 100 रु. (हार्डकवर)

किताबें मंगाने के लिए राशि (डाक खर्च का 10 प्रतिशत और जोड़कर) मनी ऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं।
पता: एकलव्य, ई-1/25 अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462 016.

खोज : प्लेग के जीवाणु और फैलने के तरीके की

लुडविक ग्रॉस

बीती सदियों में प्लेग ने शहर तो क्या, पूरे के पूरे देश उजाड़ कर रख दिए। पिछली सदी के अंतिम दशक में जब एशिया में इस विभीषिका का कहर ढहना शुरू हुआ उस समय कुछ वैज्ञानिक यह जानने की कोशिशों में लगे हुए थे कि प्लेग किस तरह फैलता है और कौन-सा विषाणु इसके लिए ज़िम्मेदार है – इस खतरे को जानते हुए भी कि वे खुद भी इसकी चपेट में आ सकते हैं।

आज अमेरिका में इंसानी प्लेग के फैलने की खबर कभी-कभार ही मिलती है। 1988 में वहां प्लेग से ग्रस्त होने की सिर्फ चौदह घटनाएं ही दर्ज हुईं (इन सभी को बचा लिया गया), और 1990 में ऐसे लोगों की संख्या सिर्फ पांच थी। ये सभी मामले जंगली चूहे जैसे कुतरने वाले जीवों के संपर्क में आने का परिणाम थे, जिन पर प्लेग-बैक्टीरिया और पिस्सु पल रहे थे। ये घटनाएं अमेरिका के पश्चिमी राज्यों – कोलोरेडो, न्यू मैक्सिको, कैलीफोर्निया, एरिज़ोना और टेक्सास में घटी थीं। प्रभावित लोगों का एंटी-बायोटिक से इलाज हुआ और वे ठीक हो गए। हाल ही में 1994 में भारत का एक इलाका भी प्लेग की चपेट में आया था। इस दौरान करीब सात सौ लोग इससे ग्रस्त हुए थे।

यहां इस लेख का मकसद प्लेग के बैक्टीरिया – और किस तरह ये चूहों

प्लेग का तांडव: प्लेग न सिर्फ मौत लाता था बल्कि लोगों में बुरी तरह भय मैदा कर देता था। इसी विषय पर कई पेंटिंग बनाई गईं। 17वीं सदी के मध्य में जब यह महामारी नेपल्स (इटली में) अपना कहर ढा रही थी उस समय चित्रकार *माइको स्पेडेरो* वहीं था। इस पेंटिंग में उसने प्लेग की विभीषिका को चित्रित किया है। इस पेंटिंग में प्लेग की वजह से ताबूत लेकर जाते, लाशों को उठाते और मरते हुए लोगों को चित्रित किया गया है।

पर पल रहे पिस्सुओं के माध्यम से दूसरे चूहों और फिर इंसानों तक पहुंचते हैं – की खोज से जुड़े रोचक पहलुओं की जानकारी देना है।

कुछ दशकों पहले तक प्लेग भयंकर प्रलय के रूप में सामने आता था। इसने भारत, चीन, इंडोनेशिया, अफ्रीका, और खासकर यूरोप में लाखों लोगों की जान ली थी। लोगों को इस बीमारी के कारणों की जानकारी नहीं थी। इसलिए अशुभ नक्षत्रों, धूमकेतुओं, किसी दैवी शक्ति के प्रकोप आदि बातों को तो इस बीमारी से जोड़ा जाता ही था; अक्सर यह आरोप भी लगाया जाता था कि यहूदी या कुछ अन्य कबीलों के लोग कुंओं में ज़हर डाल देते हैं जिससे यह बीमारी फैलती है। और इस अफवाह के चलते इन लोगों को भयंकर यातनाएं सहनी पड़ती थीं।

प्लेग की गुत्थी को सुलझे अभी कुछ ही वक्त बीता है। इस बीमारी के जीवाणु को 'एलेक्ज़ेंडर यरसिन' ने खोजा था। यरसिन की मृत्यु 1943 में दूसरे विश्व युद्ध के दौरान हुई। पास्चर संस्थान की एक मीटिंग में शामिल होने के लिए यरसिन जून 1940 में पेरिस आए थे। जर्मन फौजों के फ्रांस की राजधानी में घुसने से कुछ ही देर पहले वे होटल से बाहर निकले थे (उस वक्त मैं भी उसी होटल में ठहरा हुआ था)। दरअसल जब यरसिन पेरिस छोड़कर सायगोन के लिए उड़े, उसके करीब छह घंटे बाद हवाई अड्डा बंद कर दिया गया था। उन्हीं दिनों 'पॉल लुईस साइमंड' वैलेंस (फ्रांस) में पौधे इकट्ठा करते हुए एकांतमय जीवन जी रहे थे। प्लेग, पिस्सुओं के माध्यम से फैलता है यह खोज साइमंड ने की थी। उनकी इस महत्वपूर्ण खोज के बारे में विस्तार से जानने के लिए 1938 में मैंने उन्हे कई खत लिखे, जिनका जवाब उन्होंने तत्परता से दिया। उस दौरान मैं पास्चर संस्थान मे काम कर रहा था।

बचपन से ही मैं महत्वपूर्ण चिकित्सकीय आविष्कारों के बारे में जानने को काफी उत्सुक था – कि इनकी खोज कैसे हुई और महामारियों के फैलाव पर लगाम कैसे लगाई जाती थी। अपनी पोस्ट डॉक्टरल पढ़ाई के दैरान मुझे 'यंग गेस्ट इन्वेस्टिगेटर' के रूप में पास्चर संस्थान में कई साल काम करने का मौका मिला।

दरअसल मैं एक छोटे-से भवन में स्थित एक अलग-थलग प्रयोगशाला के आकर्षण में फंस गया था। मुझे बताया गया कि इस भवन की सबसे ऊपरी मंज़िल पर स्थित प्रयोगशाला प्लेग के काम के लिए समर्पित है। इसमें यरसिन और साइमंड के तमाम नोट्स और कागज़ात रखे हैं। यरसिन ने ही सबसे पहले पहचाना था की यह बीमारी पहले चूहों को संक्रमित करती है। मैं इस प्रयोगशाला में कई

बार गया और इन दोनों वैज्ञानिकों के नोट्स ध्यान से पढ़े। दरअसल, यही वह प्रयोगशाला थी जिसमें चालीस साल पहले साइमंड ने काम किया था। सन् 1938 में जब मैं उन कागज़ातों का अध्ययन कर रहा था जो प्लेग फैलने की गुत्थी को सुलझाने की दिशा में आगे बढ़ते थे, उस वक्त साइमंड फ्रांस में फ्रांसीसी फौज की चिकित्सा पलटन के रिटायर्ड जनरल के रूप में रह रहे थे। इस खोजबीन में एडमंड ब्यूमेट्ज़ ने मेरी बहुत मदद की। एडमंड, यरसिन के पुराने दोस्त थे और प्लेग प्रयोगशाला में काम करते थे।

रुचि की शुरुआत

पिछली कई शताब्दियों में प्लेग ने न केवल शहरों बल्कि पूरे-के-पूरे देशों को उजाड़ कर रख दिया था। लाखों लोग मारे गए, जनसंख्या का काफी बड़ा हिस्सा इसकी चपेट में आया। कई बार तो मारे गए लोगों को दफनाने के लिए भी कम ही लोग बचते थे।

लोग बुरी तरह आतंकित थे। चिकित्सा व्यवस्था और चर्च से जुड़े लोग किसी दैवीय या अलौकिक शक्ति को इस महामारी का कारण मानने लगे थे। उनका सोचना था कि जनसंख्या के किसी हिस्से द्वारा किए पापों के बदले में उन्हें यह दैवीय प्रकोप झेलना पड़ रहा है। कई बेगुनाह समूहों को इस बीमारी को फैलाने का दोषी ठहराया गया, उन्हें यातनाएं दी गईं और मार डाला गया। उस समय न तो इस विपत्ति का कोई इलाज था और न ही इसे रोकने का कोई तरीका नज़र आ रहा था।

एक अपेक्षाकृत आसान इलाज के ज़रिए इस विनाशकारी बीमारी की रोकथाम तक पहुंचने का रास्ता इस सदी की शुरुआत में खोजा गया। इन खोजों के लिए किसी जटिल तरीके या तकनीक की ज़रूरत नहीं थी। ज़रूरी थे तो बस कुछ समझदार, कर्मठ लोग, जिनके पास सामान्य ज्ञान और अच्छी अवलोकन क्षमता के साथ सदइच्छा थी और उतना ही महत्वपूर्ण एक सूक्ष्मदर्शी भी; साथ ही लुईस पास्चर और उनके सहकर्मी एमिले रॉक्स का सिफारशी खत भी। इन खतों के कारण उन्हें 'भारत-चीन' के अधिकारियों की मदद मिलने में सहूलियत हुई, जहां उस समय यह बीमारी भयंकर तबाही मचाए हुए थी। यरसिन और साइमंड न सिर्फ पास्चर संस्थान से प्रशिक्षित थे, अपितु उन्हें इस बीमारी के पीछे पड़ जाने और इसका इलाज ढूंढने के लिए पास्चर से तगड़ा प्रोत्साहन मिला था। संक्षेप में इस मूलभूत खोज की कहानी कुछ इस तरह है।

स्विट्ज़रलैण्ड में पैदा हुए यरसिन, फ्रांसीसी अप्रवासियों के वंशज थे। उनकी पढ़ाई फ्रांस में हुई। उन्होंने पेरिस के एक अस्पताल में काम किया। इसी

बीच पास्चर ने रेबीज़ का टीका खोज निकाला था। उसी दौरान यरसिन एक ऐसे व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी की चीर-फाड़ कर रहे थे जिसकी मौत रेबीज़ ग्रस्त कुत्ते के काटने से हुई थी। चीर-फाड़ के दौरान यरसिन की उंगली कट गई। वे जल्दी से पास्चर की प्रयोगशाला पहुंचे। पास्चर ने अपने सहायक एमिले रॉक्स से कहा कि वे यरसिन को रेबीज़ का टीका लगा दें। इस तरह यरसिन, पास्चर और रॉक्स के बीच एक लम्बी दोस्ती की शुरुआत हुई। तत्पश्चात यरसिन की जीवाणु विज्ञान में कुछ रुचि जागृत हुई और वे अक्सर पास्चर और रॉक्स की प्रयोगशाला में अपना समय गुज़ारने लगे। रॉक्स ने शोध थीसिस में भी यरसिन की काफी मदद की।

काफी जद्दोजहद के बाद

हां, तो जब प्लेग हांगकांग में तबाही मचा रहा था तो पास्चर ने यरसिन को वहां पहुंचकर इसे समझने और उसके लिए ज़िम्मेदार जीवाणु (सूक्ष्मजीवी) को ढूंढ निकालने का सुझाव दिया। यरसिन ने इस सुझाव को उत्साहपूर्वक स्वीकार किया।

पास्चर ने फ्रांस के अधिकारियों से यरसिन को हांगकांग भेजने का आग्रह किया। ऑर्डर मिलने में ज़रा भी देरी नहीं हुई और यरसिन हांगकांग के लिए रवाना हो गए। पर समस्या इतनी आसान नहीं थी जितनी कि नज़र आ रही थी। बेशक महामारी अपने पूरे ज़ोर पर थी। लोग हज़ारों की संख्या में मर रहे थे। शहर के अस्पताल बीमार और मरते मरीज़ों से भरे पड़े थे। पर यरसिन की पहुंच शवगृह तक संभव नहीं हो पा रही थी। अस्पताल के निदेशक ने उन्हें इसकी आज्ञा नहीं दी। तरह-तरह के प्रयासों के बाद (यहां तक कि गवर्नर से भी) आखिरकार यरसिन को अस्पताल के अंधेरे गलियारे के एक कोने में छोटा-सा मेज़ रखने की इजाज़त मिली।

मरीज़ों का जो कमरा था यह जगह बिल्कुल उसके पास थी। यहां यरसिन अपना सूक्ष्मदर्शी, नोटबुक और कुछ पिंजरे रख सकते थे। पिंजरे में गिनी पिग और चूहे रखे जा सकते थे। पर शवगृह अभी भी उसकी पहुंच से दूर था, जहां वह प्लेग से मरे मरीज़ों की बढ़ी हुई लसिका गठानों (Lymph node) को छेद कर इस बीमारी के लिए ज़िम्मेदार बैक्टीरिया को पहचानने की उम्मीद कर रहा था। इसी बीच हताश यरसिन की एक अंग्रेज़ पादरी से दोस्ती हो गई। पादरी ने उसे अस्पताल के बाहर, पर करीब ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बनाने में मदद की। यहां यरसिन एक छोटा-सा पलंग जमा सकता था और अस्थाई प्रयोगशाला बना सकता था। एक अन्य पादरी की सलाह पर यरसिन ने दो अंग्रेज़ नाविकों

को कुछ डॉलर दिए जो अस्पताल में शवगृह की देखभाल करने में मदद कर रहे थे। अब यरसिन के लिए इन दो नाविकों के साथ कुछ मिनटों के लिए शवगृह में दाखिल हो पाना संभव हो पाया। इस तरह वह एक ऐसे शव के पास पहुंचा जिसने प्लेग की वजह से हाल ही में दम तोड़ा था। यरसिन ने मरीज की फूली लसिका गठान को कांच की एक कीटाणुरहित पतली नली से बेधा और अपनी छोटी-सी प्रयोगशाला की तरफ दौड़ पड़ा। वहां उसने उस द्रव के एक हिस्से को तो सूक्ष्मदर्शी के नीचे रखा, कुछ हिस्सा गिनी-पिग के शरीर में प्रविष्ट कराया और शेष बचे द्रव को नाव के ज़रिए तुरंत पास्चर संस्थान में रॉक्स के पास, पेरिस भेजने का इंतज़ाम किया।

यरसिन उस द्रव को सूक्ष्मदर्शी से देखकर बहुत उत्तेजित हो गया; उसने अपनी नोट बुक में लिखा –
"जून 20, 1894 – यह सैम्पल जीवाणुओं से भरा है। सब एक जैसे लग रहे हैं. . . .यह बिलाशक प्लेग के ही जीवाणु हैं।" एक दूसरा नोट एक या दो दिन बाद लिखा गया था – "प्लेग वाले ब्यूबोनिक द्रव को जिन गिनी-पिग में प्रविष्ट कराया था वे सब मर गए। उनका खून और अन्य अंग उसी जीवाणु से भरे पड़े थे।" उसने अस्पताल के निदेशक को अपने इस अवलोकन के बारे में बताया। इसके बाद यरसिन को शवगृह में आने-जाने की इजाज़त मिल गई। इसके कुछ ही समय बाद एक नया और बहुत ही महत्वपूर्ण अवलोकन सामने आने वाला था। यरसिन ने देखा कि बहुत बड़ी तादाद में चूहे सड़कों पर और शवगृह, अस्पताल आदि के पास मरे पड़े थे। उसने इन चूहों के खून, लसिका गठानों और अन्य अंगों को सूक्ष्मदर्शी से देखा और पाया कि सभी में वैसे ही बैक्टीरिया भरे पड़े थे जैसे कि उसने प्लेग से मरे लोगों में पाए थे। तब उसे अहसास हुआ कि प्लेग न सिर्फ मनुष्य बल्कि शायद प्रमुख रूप से चूहों को भी होता है।

यरसिन ने इस तथ्य को रिकॉर्ड किया, "लोगों को यह बात काफी पहले से मालूम है कि न सिर्फ प्लेग व्यापक रूप से फैलने के समय, बल्कि उसके पहले चूहे इससे संक्रमित होते हैं। पुराने लोग इस बाबत जानकारी रखते थे; चीन के पहाड़ी इलाकों में रहने वाले ग्रामवासी, भारत के पहाड़ी गांवों के लोग, फॉरमोसा द्वीप के निवासी जानते थे कि जब हज़ारों की तादाद में चूहे सड़कों और घरों के आसपास मरते दिखें तो यह विनाशकारी महामारी के इंसानों के बीच फैलने की सूचना है। दरअसल प्लेग को स्थानीय भाषा में 'चूहों की बीमारी' के रूप में जाना जाता था।"

इन महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक

प्लेग का कारण: प्रयोगशाला में पनपता घातक बैक्टीरिया पैस्ट्युरेला पेस्टिस (Pasteurella pestis)। प्लेग का कारक यह बैक्टीरिया काफी तेज़ी से वृद्धि करता है और गुंबदनुमा आकार में इकट्ठा हो जाता है।
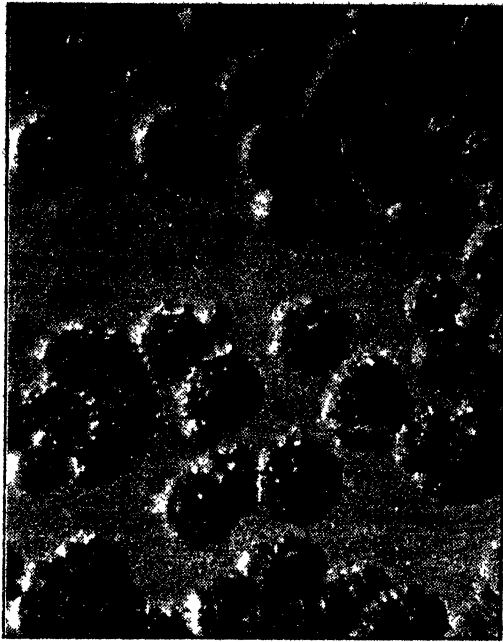
अवलोकनों से 1894 की गर्मियों में यह स्पष्ट हो गया था कि चूहों और इंसानों में होने वाले प्लेग का कारक वही बैक्टीरिया है जिसे यरसिन ने खोजा था। परन्तु यह अब भी स्पष्ट नहीं था कि यह बीमारी आदमी से आदमी, चूहों से चूहों या चूहों से आदमी तक कैसे फैलती है। हवा, भोजन और धूल में मिले मल पर शक था, लेकिन कोई प्रमाण नहीं था।

यरसिन द्वारा रॉक्स और अल्बर्ट कैलमेट को भेजे गए ये आधारभूत निरीक्षण उसी साल पास्चर संस्थान की शोध पत्रिका में प्रकाशित हुए।

चूहे, प्लेग और इंसान

चूहों से चूहों या चूहों से इंसानों में प्लेग फैलने का राज़ कुछ सालों बाद साइमंड ने खोला। साइमंड उस समय सेना में चिकित्सक थे। उन्हें पास्चर ने 'इंडो-चीन (कम्बोडिया)' भेजा था जिससे कि वे प्रलयकारी प्लेग पर होने वाली शोध को सम्हालें और

साथ ही यरसिन द्वारा किए गए अवलोकनों को और आगे बढ़ाएं। उन्होंने पास्चर संस्थान की उस प्रयोगशाला में काम किया था जिसमें 40 साल बाद मुझे काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। रॉक्स ने साइमंड को इंडो-चीन जाकर यरसिन के काम को आगे बढ़ाने का सुझाव दिया, खासतौर पर वहां जाकर प्लेग-ग्रस्त लोगों का इलाज एक खास 'सीरम' से करने की कोशिश करना। इस सीरम को यरसिन द्वारा पहचान कर अलग किए गए प्लेग के बैक्टीरिया को घोड़ों में प्रविष्ट कर तैयार किया गया था। साइमंड ने इस नए मिशन को बहुत उत्साह से स्वीकार किया। उस समय 'इंडो-चीन' में प्लेग तबाही मचाए हुए था।

हालांकि साइमंड ज़्यादातर समय तो 'सीरम' से लोगों का इलाज करने में व्यस्त रहता पर शायद उसके विचार कहीं और ही घूमते रहते। वह यह सोच-सोचकर हैरान और परेशान था कि एक मरीज़ से एक स्वस्थ व्यक्ति तक यह रोग फैलता कैसे है; पर्याप्त दूरी में रहने वाले और आपस में कोई प्रत्यक्ष संपर्क न रखने वालों में भी यह रोग फैल जाता था। जहां प्लेग फैलता वहां से आधा मील दूर रहने वाले लोगों में भी आमतौर पर इस रोग के लक्षण पैदा हो जाते, जबकि उनके बीच कोई आपसी संपर्क नहीं था।

साइमंड को अंदेशा था कि इस बीमारी से ग्रस्त चूहे ही इसका संचरण आदमियों के बीच करते हैं। उसे याद आया कि चीन के युनान हिस्से के निवासी मरे हुए चूहे देखते ही घरों से दूर भाग निकलते थे।

इसके अतिरिक्त फोर्मोसा द्वीप (ताइवान) के बाशिंदे बीमार तथा मरे हुए चूहों से किसी भी तरह के संपर्क को प्लेग के संक्रमण की विभीषिका से जोड़ देते थे। उसने अपनी नोट बुक में लिखा कि प्लेग महामारी के दौरान बम्बई के एक घर में मरे हुए 75 चूहे पाए गए थे। उसने कुछ चूहों को गलियों में भागते भी देखा, वे घिसट रहे थे, एक-दूसरे पर गिर रहे थे और मर रहे थे। एक अन्य घटना साइमंड ने अपनी नोटबुक में दर्ज की, "ऊन की एक फैक्टरी में जब सुबह कर्मचारी काम पर आए तो उन्होंने देखा कि फर्श पर बहुत सारे मरे हुए चूहे पड़े थे। बीस मज़दूरों को फर्श साफ करने का हुक्म दिया गया। तीन दिन के भीतर ही उनमें से दस को प्लेग हो गया। जबकि शेष काम करने वालों में से कोई भी इससे बीमार नहीं हुआ।"

एक अन्य घटना चक-कलाल में अप्रैल 1898 में घटी। वहां भारी संख्या में मरे चूहे पाए गए। इसके आधार पर वहां के निवासियों ने अनुमान लगाया कि प्लेग उन तक

पहुंचने वाला है, इसलिए वे अपने घरों से भाग खड़े हुए और उन्होंने दूर एक कैम्प में शरण ली। दो हफ्ते बाद एक मां-बेटी को इजाज़त दी गई कि वे घर जाकर कपड़े ले आएं। जब वे घर पहुंचे तो बहुत सारे चूहे मरे पड़े थे। उन्होंने पूंछ से पकड़कर उन्हें बाहर फेंक दिया, और कपड़े लेकर वापस कैम्प लौट आईं। दो दिन बाद दोनों को प्लेग हो गया।

एक और अवलोकन – "13 मई 1898 को बंबई में एक व्यक्ति अपने घोड़ों को देखने अस्तबल गया। उसे फर्श पर एक मरा हुआ चूहा दिखा। उसने पूंछ से पकड़कर उसे बाहर फेंक दिया। तीन दिन बाद ही उसे प्लेग ने जकड़ लिया।"

साइमंड को संदेह होना शुरू हुआ कि इंसानों को प्लेग तभी होता है जब वे कुछ ही मिनट पहले प्लेग से मरे हुए चूहे के संपर्क में आते हैं। अगर चूहे को मरे एक-दो दिन बीत चुके हों और वह ठंडा पड़ चुका हो तो ऐसे चूहे के संपर्क में आने से प्लेग नहीं फैलता। साइमंड ने निष्कर्ष निकाला, "हमें मानना ही होगा कि मरे हुए चूहे और इंसान के बीच में कोई रहस्यमय चीज़ ज़रूर है। यह चीज़ पिस्सु हो सकती है।" साइमंड ने सोचा कि उसे पिस्सु के साथ कम-से-कम एक प्रयोग करना चाहिए।

". . . मेरी प्रयोगशाला काफी बदहाल अवस्था में थी। जिस समय बारिश के मौसम में बंबई में प्लेग फैला मेरे पास सिर्फ एक तंबू था। तंबू में मेरे पास सिर्फ एक माइक्रोस्कोप और चूहे रखने के लिए कुछ पिंजरे थे। हालांकि अपनी प्रयोगशाला की इस खस्ता हालत में मैं ज़्यादा कुछ नहीं कर सकता था लेकिन मुझे यकीन था कि यह पिस्सु ही है जिससे प्लेग इंसान में संचारित होता है, और इसे मैंने सिद्ध भी कर दिया।" *(साइमंड द्वारा लेखक को लिखे गए खत से लिए गए अंश)*

"स्वस्थ चूहों में या तो पिस्सु होते ही नहीं या फिर उनकी संख्या बहुत कम होती है। अगर होते हैं तो वे बहुत जल्दी ही उनसे निजात पा लेते हैं क्योंकि वे अपनी त्वचा और बालों की देखभाल और रखरखाव को लेकर बेहद सचेत होते हैं, और उन्हें हमेशा साफ रखने की कोशिश में लगे रहते हैं। लेकिन बीमार चूहे अपनी त्वचा को लेकर बेहद उदासीन होते हैं। इसी वजह से पिस्सुओं को उनके ऊपर बसेरा करने की छूट-सी मिल जाती है। जब चूहा मरता है और उसका शरीर ठंडा पड़ने लगता है तब पिस्सु कूद कर दूसरे चूहे पर चले जाते हैं और अगर चूहा न मिले तो वे इंसानों के ऊपर कूद जाते हैं।

"इस तरह उन स्थितियों की व्याख्या की जा सकती है जब प्लेग ग्रस्त रोगी

के संपर्क में आए बगैर ही दूसरे लोग प्लेग से ग्रसित हो गए – एक स्वस्थ व्यक्ति हाल ही में प्लेग से मरा चूहा पूंछ पकड़ फेंकता है और तीन से चार दिन के भीतर उसे प्लेग हो जाता है।

गर्म चूहा, ठंडा चूहा

साइमंड को यकीन था कि चूहे का पिस्सु (Xenopsylla cheopis) ही बीमारी को फैलाता है लेकिन अभी उसे प्रायोगिक रूप से इसे सिद्ध करना था कि जो वह मान के चल रहा है वो सही है। उसे इस खतरे का अहसास था कि वह कभी भी संक्रमित पिस्सु के संपर्क में आ सकता है। उसने कच्छ-मांडवी इलाके में अपने तंबू में प्रयोग करने की योजना बनाई। यह इलाका तब के इंडो-चीन में स्थित था। यही वह जगह थी जहां उसे भेजा गया था। उसके प्रयोग का प्रस्तावित तरीका इस तरह था – वह प्लेग से ताज़े-ताज़े मरे एक चूहे को चिमटे से पकड़कर कागज़ की एक थैली में डाल देगा। जिसे बाद में साबुन घुले हुए गुनगुने पानी में डालना था। कागज़ की थैली को पानी में ही एक तेज़ धार वाली कैंची से काटा जाना था। इस व्यवस्था में पिस्सु हिलडुल ही नहीं पाएंगे और मरे चूहे की खाल से ही चिपके रहेंगे। साइमंड ने ऐसे ही कुछ पिस्सुओं को चूहे की खाल में से निकाला और उन्हें सूक्ष्मदर्शी के नीचे रखा। उसने देखा कि उनके आंतरिक अंगों में प्लेग के बैक्टीरिया भरे पड़े थे।

तुलना के लिए उसने एक स्वस्थ चूहे के शरीर से पिस्सु लेकर उनका भी अवलोकन किया और पाया कि ये पिस्सु प्लेग के बैक्टीरिया से विहीन थे। साथ ही साइमंड को यह अहसास भी हुआ कि पिस्सुओं के चूहों से कूदने का खतरा सिर्फ कुछ ही समय के लिए होता है, जबकि कुछ ही देर पहले मरे चूहे का शरीर ठंडा पड़ रहा होता है। पिस्सु ठंड सहन नहीं कर सकते और दूसरे गर्म शरीर पर कूदने की कोशिश करते हैं – अगर दूसरा चूहा मिला तो ठीक, नहीं तो इंसान के शरीर पर ही कूद जाते हैं।

चार इंच की कुदान

कच्छ-मांडवी की अत्यधिक गर्मी ने प्लेग फैलने पर कुछ समय के लिए विराम लगा दिया था। साइमंड वहां से बंबई और कराची गया जहां उसे कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग करने थे। वह एक बहुत बड़े कांच के जार को साइगोन से कराची ले गया। इस जार की तली में थोड़ी-सी मिट्टी और प्लेग से संक्रमित एक चूहा पड़ा हुआ था। जार का मुंह एक बहुत ही महीन जाली से ढंका हुआ था। चौबीस घंटे बाद जब चूहा मरने लगा तो उसने जार का ढक्कन उठा दिया और बहुत ध्यान से उसमें एक छोटा-सा पिंजरा घुसा दिया।

इसमें एक स्वस्थ चूहा था। धागों की सहायता से पिंजरे को जार के ढक्कन से बांध दिया गया। यानी जार के अंदर पिंजरा हवा में लटक रहा था और लटकते पिंजरे के कुछ ही नीचे बीमार चूहा मरा पड़ा था। इस लटक रहे पिंजरे का तला काफी बड़े छेदों वाली जाली से बनाया गया था। इस तरह स्वस्थ चूहे का बीमार चूहे से कोई सीधा संपर्क नहीं था लेकिन पिस्सु चाहें तो बीमार चूहे से स्वस्थ चूहे पर कूद सकते थे। एक अन्य प्रयोग से साइमंड ने अवलोकनों से यह निर्धारित किया कि पिस्सु चार इंच की ऊंचाई तक कूद सकते थे। उन्हें जार में लटक रहे स्वस्थ चूहे तक पहुंचने में कोई परेशानी नहीं हुई।

जब जार के तले में रखा प्लेग से ग्रसित चूहा मर गया तो उसे सावधानीपूर्वक अलग कर दिया गया। पांच दिन बाद लटक रहे चूहे को भी प्लेग हो गया। यह तारीख थी दो जून 1898. इस तरह प्लेग के संक्रमण की गुत्थी सुलझ गई। साइमंड ने अपने

बैक्टीरिया का वाहक: प्लेग के बैक्टीरिया को फैलाने वाला पिस्सु। चित्र में इसे मूल आकार से कई गुना बड़ा करके दिखाया गया है। पिस्सु खुद हमेशा इस बीमारी को साथ-साथ लिए नहीं फिरता बल्कि पहले यह प्लेग से संक्रमित जीव के संपर्क में आता है और फिर दूसरे जीव से चिपककर बैक्टीरिया उस तक पहुंचाता है।
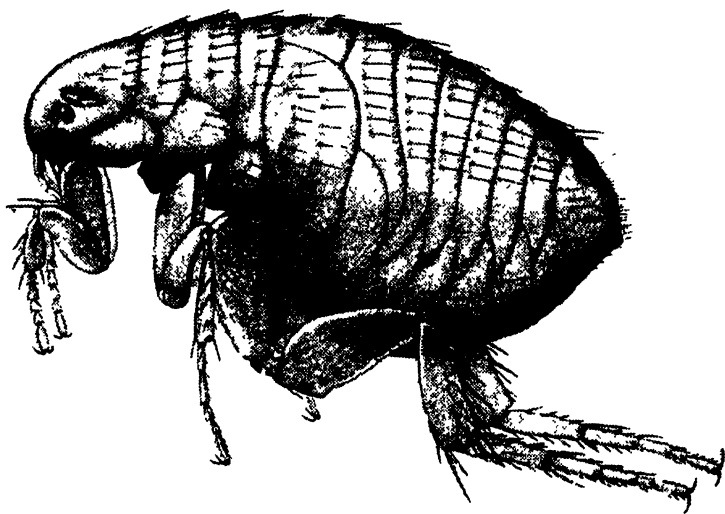
पिस्सु का वाहक: पिस्सु आमतौर पर काले चूहे (Rattus rattus) के शरीर पर चिपका रहता है। और अगर पिस्सु पहले ही प्लेग के बैक्टीरिया से संक्रमित हो चुका है तो जिस नए शरीर के साथ पिस्सु चिपकता है वह भी प्लेग से संक्रमित हो जाता है।

सभी अवलोकनों की संक्षिप्त रिपोर्ट पेरिस में रॉक्स को भेजी। अक्टूबर 1898 में यह पास्चर संस्थान की एक शोध पत्रिका में छपी।

तुलना के लिए ऐसे ही एक प्रयोग में प्लेग-ग्रस्त पिस्सु-रहित चूहे को स्वस्थ चूहों के साथ जार में रखा गया। किसी को भी संक्रमण नहीं हुआ। लेकिन बाहर से जैसे ही पिस्सुओं को जार में दाखिल करवाया गया, स्वस्थ चूहे प्लेग ग्रसित हो गए।

इस तरह लंबे समय से चली आ रही प्लेग से जुड़ी गुत्थी सुलझ गई। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि प्लेग फैलने के समय क्यों एक सुव्यवस्थित अस्पताल सुरक्षित जगह होती है। वहां चिकित्सकों, नर्सों आदि में प्लेग का संचरण नहीं होता, सिवाय फेफड़ों के प्लेग वाले बिरले मामलों के जिनमें मरीज से सीधे ही प्लेग स्वस्थ व्यक्ति को लग सकता है। दूसरी तरफ 'ब्यूबोनिक प्लेग' सिर्फ पिस्सुओं के माध्यम से ही फैलता है। पिस्सु एक बार संक्रमित हो जाने के बाद काफी लंबे समय तक संक्रमित बने रहते हैं, शायद हफ्तों या महीनों तक।

यह आंकड़े उस जानकारी पर आधारित हैं जो सन् 1938 में मुझे

साइमंड से मिली थी। ये सारे हस्तलिखित पत्र पास्चर संस्थान की प्रयोगशाला को संबोधित थे जहां उस समय मैं शोधार्थी था। मेरे शोध का विषय था प्रयोगशाला जीवों में कैंसर का संचरण।

दूसरे आंकड़े जो कि खासकर यरसिन द्वारा प्लेग के जीवाणु की खोज आदि से संबंधित हैं मैंने यरसिन के निजी नोट्स और रिकॉर्ड्स से प्राप्त किए। ये कागज़ात पास्चर इंस्टीट्यूट में रखे हैं। इनके अलावा ब्यूमेट्ज़ से बातचीत करके भी मैंने कुछ जानकारी इकट्ठी की। यरसिन द्वारा खोजे गए ब्यूबोनिक प्लेग के जीवाणु के समान ही एक अन्य जीवाणु को एक अन्य वैज्ञानिक किटेसाटो ने उसी वर्ष (1894) में खोज निकाला था।

जब मुर्गी भागी

अब एक और दिलचस्प कहानी। ब्यूमेट्ज़ ने मुझे एक परखनली दिखाई, जिसमें प्लेग के जीवाणु भरे हुए थे। उन्होंने मुझे बताया कि न सिर्फ इंसान और चूहे बल्कि बंदर, गिनी-पिग और कई अन्य जीव भी प्लेग को लेकर संवेदनशील होते हैं। लेकिन मुर्गियां में प्लेग प्रतिरोधी क्षमता होती है। उन्होंने एक दूसरी छोटी-सी परखनली निकाली जिसमें लाल रंग की पेंसिल से 'B. P.' लिखा हुआ था और कहा कि इसमें जितने प्लेग के बैक्टीरिया हैं उनसे पेरिस का एक पूरा का पूरा ज़िला खत्म हो सकता है। उन्होंने कहना जारी रखा, "एक बार इंजेक्शन के माध्यम से हमने कुछ बैक्टीरिया प्रयोगशाला की एक मुर्गी के भीतर डाल दिए।
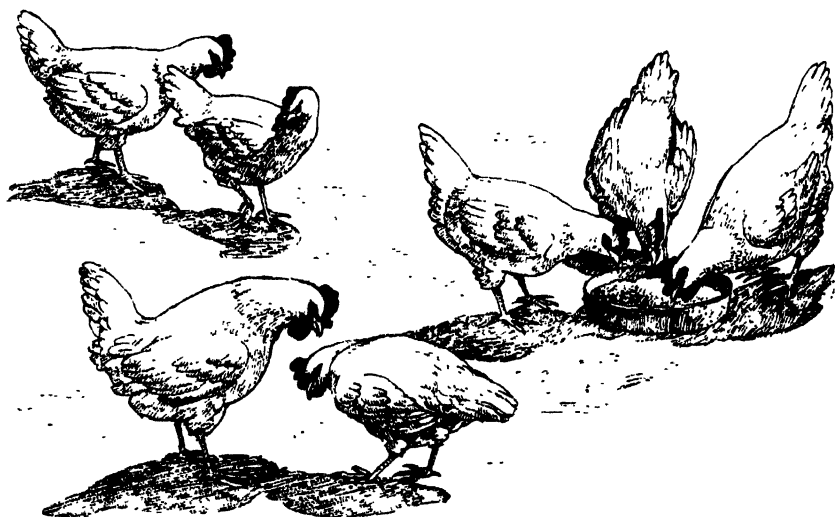
इसके बाद मुर्गी स्वस्थ बनी रही। और तो और अगले दिन उसने एक अंडा भी दे दिया। एक दिन अचानक मुर्गी गायब हो गई।

शायद प्रयोगशाला की खिड़की से होकर उड़ गई थी। हम घबराए-से उसे यहां-वहां ढूंढने लगे क्योंकि यह मुर्गी शायद इस भयंकर महामारी को फैला सकती थी। लेकिन हमें वो कहीं भी नहीं मिली।

कई दिनों बाद मालूम पड़ा कि संस्थान से लगी गली में रहने वाले एक सुप्रिटेन्डेन्ट ने उसे पकड़ लिया था। इस बात से बेखबर कि वह मुर्गी हमारी प्रयोगशाला से आई थी, उसका परिवार उसे पकाकर खा गया। संभवतः पकाने के दौरान प्लेग के जीवाणु नष्ट हो गए थे। किसी को भी कुछ नहीं हुआ, सभी स्वस्थ और ज़िंदा रहे।

अब तो प्लेग पर अच्छी तरह से काबू पाया जा चुका है। बीमारी फैलाने वाले चूहे – मुख्यतः काले वाले (Rattus rattus) – कभी-कभार ही आसपास दिखते हैं। इसी तरह प्लेग फैलाने वाले पिस्सु (insect) भी चूहों तक सीमित हो कर रह गए हैं। अन्य पिस्सु इसे कभी-कभार ही फैलाते हैं। आजकल अगर ज़रूरत पड़े तो हमारे पास एंटीबायोटिक्स हैं, प्लेग के उपचार के लिए।

दरअसल इंसानों और जानवरों में कभी-कभार होने वाले प्लेग का यही सामान्य इलाज है। सल्फा समूह जैसे अन्य रोगाणुरोधी एजेन्ट भी प्रभावी हैं। और आज तो हमारे पास प्लेग से बचने का टीका भी है।

लुडविक ग्रॉस: इस समय अमेरिका में एक मेडिकल सेंटर से संबद्ध हैं।

यह लेख इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज़, बेंगलौर द्वारा प्रकाशित रिसर्च जर्नल *करेन्ट साइंस* के 25 जून 1996 के अंक में प्रकाशित हुआ था।

अनुवाद: शशि सबलोक: एकलव्य द्वारा प्रकाशित विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी फीचर सर्विस स्रोत से संबद्ध, भोपाल सेंटर में कार्यरत।

चुंबक, मैं और वह शिक्षक

वी. एस. डबीर
प्रस्तुतिः माधव केलकर

कई बार साधारण-सी लगने वाली जानकारी को भी प्रयोगों की कसौटी पर कसने की कोशिश की जाए तो मालूम हो जाएगा कि गहराई में जाने पर काफी पेंच नज़र आते हैं।

मैं अपने नाती की फीस जमा करवाने उसके स्कूल गया था। वहां एक कक्षा में कुछ बच्चे प्रयोग कर रहे थे और टीचर एक बच्चे को छड़ी से मार रहा था। पूछने पर पता चला कि बच्चे के हाथ से प्रयोग करते हुए चुंबक ज़मीन पर गिर गया था। और टीचर का कहना था कि ज़मीन पर चुंबक गिरने से उसका चुंबकीय गुण नष्ट हो जाता है। मुझे यह बात थोड़ी भी नहीं जंची – एक बार चुंबक ज़मीन पर गिरने से उसका चुंबकीय गुण कैसे खराब हो सकता है!

मैंने घर पहुंचकर अपने नाती से पूछा – "क्यों भाई चुंबक का चुंबकत्व कैसे नष्ट हो जाता है?" नाती ने बताया – "यदि चुंबक को गर्म किया जाए, या पीटा जाए, या दो चुंबकों के समान ध्रुवों को सटाकर रखा जाए तो चुंबक का चुंबकत्व नष्ट हो जाता है।" (इसमें चुंबक के ज़मीन पर गिरने वाली बात नहीं थी लेकिन शायद पीटने वाली बात इससे जुड़ सकती है।) मैंने अपने नाती से पूछा – " तुम किताबों में लिखी इन बातों से सहमत हो?" उसने कंधे उचकाकर लापरवाही से कहा – "किताब में लिखा है तो ऐसा होता ही होगा।" अब मुझे लगने लगा कि स्कूली किताब में लिखी इन बातों की जांच करना चाहिए कि क्या किताब में लिखी और स्कूल मास्टर की कही बातें सच हैं?

मैं बाज़ार से चार-पांच चुंबक खरीदकर लाया। फिर अपने नाती को बुलाकर कहा – चलो हम दोनों किताब में लिखी बातों की जांच करेंगे। हमने सबसे पहले देखा सभी चुंबक अपने सिरों (ध्रुवों) से 3 सेमी. दूर रखी

ऑलपिनों को आसानी से अपनी ओर खींच लेते थे।

हमने पहले चुंबक को जलते अलाव में डाल दिया और लगभग 20 मिनट उसे आग में पड़े रहने दिया। हमने ऐसा इसलिए किया क्योंकि किताब में लिखा है कि चुंबक को गर्म करने से उसका चुंबकत्व नष्ट हो जाता है। 20 मिनट बाद हमने उस चुंबक को आग से बाहर निकाला, ठंडा होने दिया और फिर उसे मेज़ पर रखकर ऑलपिन उसके दोनों सिरों के पास लाए। वह चुंबक अभी भी 3 सेमी. दूर रखी पिनों को आसानी से अपनी ओर खींच रहा था। हमें लगा चुंबक का चुंबकत्व नष्ट होना तो दूर रहा कम भी नहीं हुआ है। हमने फिर एक बार 10 मिनट उसे अलाव में रखा लेकिन परिणाम वही आए तो हमें लगा शायद दो-चार-दस घंटे तक लगातार गर्म करने पर चुंबकत्व नष्ट होता होगा, 20-30 मिनट में तो नहीं।

दूसरे चुंबक को हमने ज़मीन पर गिराने का निश्चय किया। हमने चुंबक को हवा में लगभग ढाई फुट की ऊंचाई पर पकड़ा। चुंबक का उत्तरी ध्रुव ज़मीन की ओर था। फिर चुंबक को छोड़ा जिससे उत्तरी ध्रुव ज़मीन से टकराया। ऐसा 100 बार किया। फिर चुंबक का दक्षिणी ध्रुव ज़मीन की ओर करके चुंबक को 100 बार ज़मीन पर गिराया। यानी वह चुंबक ज़मीन पर कुल 200 बार गिराया गया। अब चुंबक को फिर से मेज़ पर रखकर जांच की तो देखा चुंबक अभी भी 3 सेमी. दूर रखी ऑलपिन को आसानी से अपनी ओर खींच रहा था। (काश, स्कूल का वह शिक्षक भी हमारे साथ होता और यह सब देख पाता।)

मेरे नाती ने मुझसे कहा – "दादाजी किताब में तो चुंबक को पीटने की बात लिखी है, हमने तो सिर्फ चुंबक को ज़मीन पर गिराया ही है।" फिर वह दौड़कर लोहे की हथौड़ी ले आया। मैंने उसे समझाया हमें चुंबक को तोड़ना नहीं है। भगवानघर से घंटा बजाने वाली लकड़ी की हथौड़ी ले आओ। हमने लकड़ी की हथौड़ी से चुंबक के दोनों सिरों (ध्रुवों) को 100-100 बार पीटा। हथौड़ी इतनी ही ज़ोर से मारी कि चुंबक न टूटे। पीटने का काम करके जांच की तो फिर वही ढांक के तीन पात। चुंबक अभी भी 3 सेमी. दूरी पर रखी ऑलपिन को आसानी से अपनी ओर खींच रहा था।

बस चुंबक की एक जांच और बच गई थी। हमने दो चुंबक लिए (जिन पर अभी तक प्रयोग नहीं किए थे।) फिर एक चुंबक के उत्तरी ध्रुव पर दूसरे चुंबक का उत्तरी ध्रुव रखने की कोशिश की लेकिन दोनों चुंबक एक-दूसरे को दूर फेंक देते थे। हमने दोनों चुंबकों के उत्तरी-उत्तरी और दक्षिणी-दक्षिणी ध्रुवों को सटाकर रबर बैंड की

मदद से बांध दिया। और उन्हें सुरक्षित जगह पर रख दियां। लगभग दो दिनों बाद (यानी 48 घंटों बाद) हमने धीरे से रबर बैंड खोला। जैसे ही रबर बैंड खुला दोनों चुंबकों ने एक-दूसरे को दूर-दूर फेंका। यानी दोनों ध्रुव पहले की तरह ही थे। दोनों चुंबक अभी भी 3 सेमी. दूर रखी ऑलपिन को आसानी से अपनी ओर खींच रहे थे।

तीनों प्रयोगों के बाद हमें समझ में आया कि चुंबक का चुंबकत्व इतनी आसानी से खत्म नहीं होता जैसा कि आमतौर पर हम समझते हैं। मैंने स्कूल के शिक्षक को अपने प्रयोग-अवलोकनों के बारे में बताया और उससे कहा कि चुंबक के एक बार ज़मीन पर गिरने से उसका चुंबकत्व नष्ट नहीं होता। हां, गिरकर वह टूट ज़रूर सकता है।

शिक्षक ने लापरवाही से कहा – "आप अपने अवलोकन के आधार पर यह कह सकते हैं लेकिन इससे किताबों में लिखी बात झूठ थोड़े साबित होगी। पाठ्य-पुस्तकें बनाने वाले भी पढ़े-लिखे विद्वान होते होंगे।"

शिक्षक की बात सुनकर मैं थोड़ा हताश हुआ कि यह व्यक्ति तो पाठ्य-पुस्तकों में लिखी बातों को वेद-वाक्य समझता है। प्रयोग करके क्यों नहीं देख लेता कि चुंबक का चुंबकत्व कैसे नष्ट होता है?

वी. एस. डबीर: सेवानिवृत, जिज्ञासु वृद्ध हैं। फिलहाल जबलपुर में अस्थाई निवास।
माधव केलकर: संदर्भ में कार्यरत।

इस लेख को पढ़ने के बाद हो सकता है ऐसी धारणा बनने लगे कि चुंबकत्व पर तापमान का खास असर नहीं पड़ता। लेकिन ऐसा नहीं है। लौह-चुंबकीय (फेरोमेग्नेटिक) पदार्थों में चुंबकत्व पर तापमान का असर एक विशेष तापमान के बाद ही पड़ता है जिसे 'क्यूरी तापमान' कहते हैं। क्यूरी तापमान पर पहुंचने के बाद ही फेरोमेग्नेटिक पदार्थों का चुंबकत्व एकदम से कम होने लगता है। अलग-अलग पदार्थों के लिए क्यूरी तापमान भी फर्क होता है जैसे लोहे के लिए 770 डिग्री सेंटीग्रेड, तो कोबाल्ट के लिए 340 डिग्री सेंटीग्रेड।
जहां तक चुंबक को पटककर चुंबकत्व नष्ट करने का सवाल है – आमतौर पर स्थाई चुंबक ऐसे पदार्थों से बनाए जाते हैं जिनका चुंबकत्व आसानी से नष्ट नहीं होता। इसलिए इन्हें कई बार पटकने पर भी चुंबकत्व पर विशेष असर नहीं पड़ता। परन्तु अस्थाई चुंबक पर पटकने का तीव्र असर पड़ता है क्योंकि उनके उपयोग के हिसाब से यह ज़रूरी है कि उनका चुंबकत्व तुरन्त नष्ट हो या कम हो जाए। उदाहरण के लिए 'कॉल बेल' में इस्तेमाल होने होने वाला लोहे का टुकड़ा यदि स्थाई चुंबक बन जाए तो कॉल बेल काम नहीं करेगी।

संपादक मंडल

धूमकेतु, एक बार फिर. . .

धूमकेतुओं को टेलिस्कोप से आकाश में खोजा जाना और देखना कोई अनोखी बात नहीं है। लेकिन ऐसा कम ही होता है जब कोई धूमकेतु इतना चमके कि नंगी आंखों से उसे देखा जा सके। और इस बार तो केवल एक साल के अंतराल में दूसरा इतना चमकदार धूमकेतु आकाश में है।

पिछले साल मार्च-अप्रैल में जो धूमकेतु आकाश में था उसका नाम था हयाकुतोके। इस बार जो दिख रहा है उसका नाम है 'हेल-बॉप'। इसे जुलाई 1995 में एक ही रात में दो खगोलशास्त्रियों ने अलग-अलग जगह से आकाश निहारते हुए खोजा था। दोनों ही अमेरिकी हैं। एक का नाम है एलन हेल और दूसरे हैं थॉमस बॉप।

वैज्ञानिक बता रहे हैं कि पिछले दो दशकों में आकाश में जितने भी पिंड देखे गए हैं उनमें से हेल-बॉप सबसे चमकदार है। धूमकेतु पहले पहल आकाश में एक धुंधले से बिन्दु के रूप में दिखाई पड़ना शुरू करते हैं। फिर जैसे जैसे ये सूर्य के पास, और पास आते जाते हैं ये धब्बा चौड़ा होता जाता है। और फिर एक दिन इसके साथ धुंध की एक पूंछ-सी दिखने लगती है। और यह जब वापस लौटता है तो पहले पूंछ छोटी होती जाती है, फिर एक धुंधला धब्बा बचता है और फिर धीरे धीरे वह भी आंखों से ओझल हो जाता है।
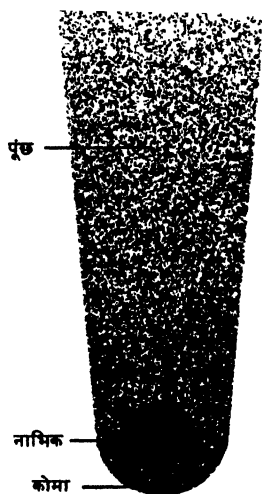
धूमकेतु का पथ

धूमकेतु दीर्घवृत्तीय कक्षा (Elliptical Orbit) में घूमते हैं। अपनी कक्षा में घूमते हुए ये सूर्य के पास से गुज़रते हुए मुड़ते हैं; दूर क्रमश: और दूर जाते हैं, फिर दुबारा मुड़कर सूर्य की ओर अपनी यात्रा शुरू कर देते हैं। इस तरह किसी भी धूमकेतु की कक्षा का एक बिन्दु वह है जब वह सूर्य के सबसे पास होगा और दूसरा जब वह
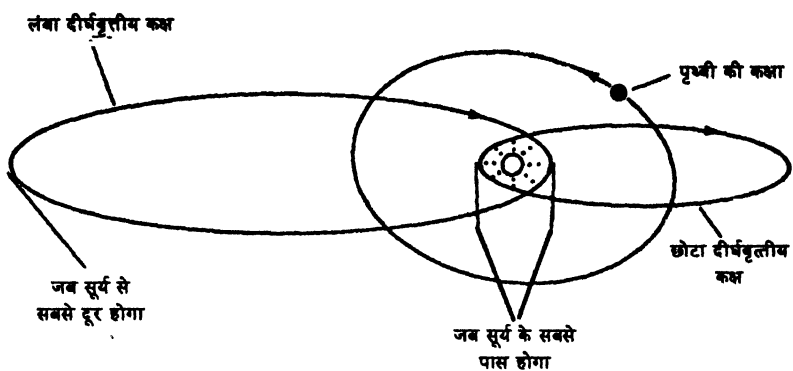
धूमकेतु का पथ

सूर्य से सबसे अधिक दूर होगा। हेल-बॉप *एक अप्रैल 1997* को सूर्य के सबसे पास वाले बिन्दु पर होगा और इसका दूर वाला बिन्दु सौरमंडल के सबसे दूर के ग्रह प्लूटो की कक्षा से भी करीब दस गुना दूर स्थित है। हेल-बॉप को यह दूरी तय करने में तीन हज़ार साल लगते हैं। यानी इतने सालों में वो एक बार सूर्य के पास आता है। अब ज़रा सोचिए कि हमारे पूर्वजों में से किसने इसे देखा होगा और आने वाली पीढ़ी के कौन लोग इसे देख पाएंगे।

क्या है धूमकेतु

जब धूमकेतु सूर्य से बहुत दूर होता है उस समय यह सिर्फ बर्फ के रूप में जमा पदार्थों – शायद पानी, मीथेन, कार्बन डाइऑक्साइड हाइड्रोजन सायनाइड आदि का एक गोला होता है, जिसमें धूल और चट्टानों के टुकड़े धंसे रहते हैं। इस गोले का केंद्र ठोस चट्टानों से मिलकर भी बना हो सकता है या फिर ऐसा भी हो सकता है कि यह पूरा का पूरा इस पार से उस पार तक बर्फ में धंसी धूल और चट्टान से बना हो।

जब यह सूर्य के पास आता है – करीब तीन खगोलीय इकाई* की दूरी पर आने पर – इसका ताप बढ़ने लगता है। इसकी कुछ बर्फ पिघलती है और इसमें जमा धूल के कण मुक्त हो जाते हैं। इस तरह इसके चारों ओर धुंध के बादल से बन जाते हैं। इन्हें 'कोमा' कहा जाता है। कोमा में थोड़ा-सा पदार्थ बहुत दूर दूर तक बिखरा रहता है इसलिए यह बहुत ही पारदर्शक और छलनी समान होता है। इस पारदर्शक कोमा के बीच धूमकेतु का ठोस केंद्र या नाभिक चमकता रहता है।

* एक खगोलीय इकाई = पृथ्वी की सूर्य से औसत दूरी 1.496×10^{8} किलोमीटर।
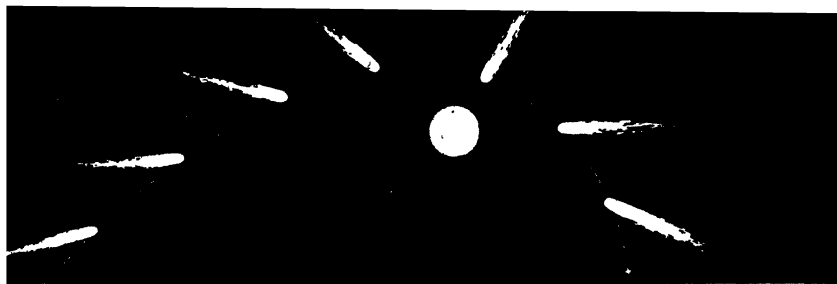
धूमकेतु की पूंछ हमेशा सूर्य से विपरीत बनी रहती है

जब यह सूर्य के और करीब आता है – करीब दो खगोलीय इकाई – तो कोमा का कुछ हिस्सा पूंछ के रूप में बदलना शुरू होता है। यह पूंछ और पास आने पर बड़ी होती जाती है। धूमकेतु की पूंछ हमेशा सूर्य से विपरीत दिशा में बनी रहती है। कोई धूमकेतु जब सूर्य के काफी करीब पहुंचता है तो उसका तापमान काफी बढ़ चुका होता है।

सूर्य से सबसे करीब के बिन्दु से गुज़रने के बाद इसकी चमक कम होने लगती है और इसका तापमान भी कम होने लगता है। जैसे-जैसे धूमकेतु दूर जाता है उसकी पूंछ सिकुड़ने लगती है, कोमा फिर जमने की अवस्था में आ जाता है और अंत में वही बचता है, गंदली बर्फ का एक गोला। धूमकेतु सूर्य की प्रत्येक यात्रा में कुछ छोटा होकर जाता है, क्योंकि हर बार उसकी पूंछ का कुछ पदार्थ अंतरिक्ष में फैल जाता है जो उसे वापस नहीं मिल पाता। इसलिए जब भी वह वापस आता है उसकी चमक पहले की यात्रा से कुछ कम ही होती है।

वैसे पदार्थ खोने की दर उसकी कक्षा और उसकी कक्षीय गति पर निर्भर करती है। अगर उसकी कक्षा छोटी है तो वह जल्दी-जल्दी सूर्य का चक्कर लगाएगा और जल्दी मन्द होता जाएगा। वहीं अगर उसकी कक्षा का आकार बड़ा है तो प्रत्येक चक्कर में कहीं ज़्यादा समय लगेगा और उसी हिसाब से पदार्थ खोने की दर भी कम होगी।

चलिए हम फिर से हेल-बॉप की यात्रा पर वापस लौटते हैं। मार्च के शुरु में यह सुबह सूर्यास्त से पहले उत्तर पूर्व में दिखेगा। इसी महीने अंतिम हिस्से में यह शाम को सूर्यास्त के बाद दिखाई पड़ने लगेगा। इसे देखने के लिए आपको किसी खुली जगह जाना पड़ेगा, क्योंकि यह क्षितिज से थोड़ा-सा ऊपर ही रहेगा। इस समय ये अपनी सबसे चमकदार अवस्था में होगा। एक अप्रैल के बाद तो यह अपनी वापिसी की तरफ मुड़ चलेगा। लेकिन फिर भी इसे अप्रैल के दूसरे हफ्ते तक देखा जा सकेगा। तो तैयार हो जाइए हेल-बॉप के स्वागत के लिए।

यदि यह कहानी आपको नहीं चुभती, यदि यह आपके दिल के तारों को झनझना नहीं देती, यदि इसे पढ़कर आप नाराज़ और दुखी – और, हां गौरवान्वित महसूस नहीं करते...

सिपाही नेमीशरण का जनाज़ा

नॉर्मन डेनियल
भावानुवादः सुशील जोशी

कभी-कभार ही ऐसा मौका आता है जब थानेदार परगटसिंह थाने में अकेले बैठे हों। आज ऐसा ही मौका था। वे अपनी बड़ी-सी मेज़ के पीछे नितान्त अकेले बैठे सोच रहे थे कि अपनी बीबी को इस बार जन्मदिन पर क्या तोहफा दें। सोचने की वजह यह थी कि उनके पास ज़्यादा पैसे थे नहीं, फिर भी वे कम पैसों में शानदार तोहफा देना चाहते थे।

तभी उनके कानों में किसी के खंखारने की आवाज़ पड़ी। ऐसा लगता था कि कोई खंखारकर उनका ध्यान खींचना चाहता हो। उन्होंने नज़रें ऊपर उठाईं मगर सामने कोई दिखाई नहीं दिया। जब आवाज़ फिर से आई तो उन्होंने थोड़ा ध्यान से देखा। एक छोटा लड़का उनकी मेज़ के सामने खड़ा था। उस लड़के का सिर बमुश्किल मेज़ के ऊपर नज़र आ रहा था। थानेदार परगटसिंह ने पूछा, "कहो, तुम्हें क्या चाहिए?"

"मैं पुलिस प्रधान से मिलना चाहता हूं।" लड़के ने जवाब दिया। आवाज़ धीमी ज़रूर थी, मगर उसमें दृढ़ता थी।

"अच्छा, पर पहले मुझे बताओ कि क्यों? और ज़रा इस ओर तो आओ, ज़रा मैं देखूं तो सही कि तुम दिखते कैसे हो।"

लड़का बेधड़क सामने आ गया। परगटसिंह ने अन्दाज़ लगाया कि उसकी उम्र नौ साल के आसपास होगी। लड़का साफ-सुथरा और स्कूल यूनिफॉर्म में था। हां, जूतों पर, कमीज़ की आस्तीनों पर मिट्टी-कीचड़ के एक-दो धब्बे ज़रूर थे, जो आम बात है। बाल भी उलझे हुए थे।

"हां, तो अब बताओ पुलिस प्रधान से किस बारे में बात करनी है?"

"सिपाही नेमीशरण के बारे में, सर।"

"नेमीशरण!!" परगट सिंह चौंक पड़े कि इस बच्चे को नेमीशरण से क्या मतलब हो सकता है; जिसकी मौत कल ही हुई है।

"जी सर। ऐसा है कि मैं लेकसाइड स्कूल में पढ़ता हूं। सिपाही नेमीशरण वहां चौराहे पर ट्रेफिक पुलिस थे। मैं अपने स्कूल के सुरक्षा दल में हूं इसलिए मुझे सिपाही नेमीशरण के साथ काम करना पड़ता था। मेरी मां ने मुझे बताया कि कल नेमीशरण की मृत्यु हो गई। मैं जानना चाहता हूं कि क्या सिपाही नेमीशरण की शवयात्रा भव्य तरीके से निकलेगी?"

थानेदार परगटसिंह से यदि कोई पूछता कि चांद धरती से कितना दूर है, तो भी वे इतना नहीं चौंकते।

"बैठो, बेटे।" उन्होंने कहा, "पहले बताओ तुम्हारा नाम क्या है?"

"विजय धीमान, सर।"

"कहां रहते हो? घर पर और कौन-कौन हैं?"

"225, कालिदास मार्ग। मैं अपनी मां के साथ रहता हूं। मेरे पिताजी नौसेना में हैं और वे बहुत दिनों से जहाज़ पर हैं।"

"अब बताओ कि तुम्हें क्यों लगता है कि सिपाही नेमीशरण की शवयात्रा भव्य होनी चाहिए?"

"क्योंकि वे इसके हकदार हैं।"

परगटसिंह ने हामी में सिर हिलाया और कहा, "बेशक। नेमीशरण मेरा बहुत अच्छा दोस्त था। वह बहुत अच्छा आदमी था। फिर भी मैं जानना चाहता हूं कि उसके जनाज़े से तुम्हारे जैसे लड़के को क्या मतलब?"

"वे मेरे भी दोस्त थे और हमारे स्कूल के सामने उन्होंने पूरे सत्ताईस साल ड्यूटी की, यह बात उन्होंने मुझे बताई थी। और यह भी बताया था कि सत्ताईस साल में एक बार भी कोई ज़ख्मी नहीं हुआ था – एक बार भी नहीं।"

"हां, यह बात तो सच है। वह बहुत अच्छा सिपाही था।"

"हां ज़रूर थे और उनका अंतिम संस्कार आई. जी. जैसा होना चाहिए।"

"क्या? किसके जैसा? ओह... हां, मैं समझ गया तुम क्या कहना चाहते हो। तुम्हारा मतलब है कि उनका अंतिम संस्कार राजकीय सम्मान से होना चाहिए।"

"बिल्कुल, जैसा कि सारे वीरों का होता है। आपको याद होगा जबलपुर में एक सिपाही ने दो डकैतों के साथ लड़ाई की थी। उसने एक डकैत को मार डाला था और खुद भी मारा गया था। उसकी शवयात्रा राजकीय सम्मान से निकली थी।"

"हां, मैंने भी उसके बारे में पढ़ा था। वह बहुत बहादुर सिपाही था।"

"मैंने एक और सिपाही के बारे में पढ़ा था। उसने एक मुठभेड़ के दौरान गुण्डे को गोली मारी थी। किन्तु गुण्डे से लड़ाई में वह खुद भी मारा गया था।"

"हां मुझे याद है।" परगटसिंह बुदबुदाए।

"तो क्या वीर कहलाने के लिए किसी को मारना ज़रूरी है?"

परगटसिंह सोच में पड़ गए। फिर बोले, "तुम्हारा सवाल तो बहुत मुश्किल है। मुझे नहीं पता, मगर वे सिपाही तो ज़रूर वीर थे।"

विजय धीमान ने कहा, "और सिपाही नेमीशरण भी वीर थे। उन्होंने कभी किसी को मरने नहीं दिया, चोट भी नहीं लगने दी। उन्होंने कभी गोली-बोली चलाकर किसी को मारा तो नहीं, परन्तु वे वीर ज़रूर थे।"

"हां एक तरह से वह वीर था, मैं मानता हूं। परन्तु मुझे नहीं लगता कि उसकी शवयात्रा राजकीय सम्मान से निकलेगी। हां, उसकी शवयात्रा बड़ी ज़रूर होगी क्योंकि उसके इतने सारे दोस्त थे।"

"परन्तु सारे सिपाही परेड नहीं करेंगे?"

"नहीं।"

"तो मुझे पुलिस प्रधान से मिलना है।"

"परन्तु विजय, तुम नहीं मिल सकते। पुलिस प्रधान घर पर हैं और बीमार हैं। वैसे भी अब तुम्हें स्कूल जाना चाहिए....।"

"क्या आपको लगता है कि सिपाही नेमीशरण की शवयात्रा राजकीय सम्मान से होनी चाहिए?"

"हां, हां, मुझे लगता है।"

"तो मैं अपने स्कूल के हैड मास्टर से कहूंगा कि. . .।"

"ज़रूर कहना. . . मगर बेटे अब तुम स्कूल जाओ। मुझे बहुत अच्छा लगा कि तुम यहां आए।"

थानेदार परगटसिंह उसे जाते देखते रहे और मन-ही-मन सोचते रहे कि इस लड़के को पता है कि उसे क्या चाहिए।

थोड़ा ही वक्त बीता होगा कि फोन बज उठा। परगटसिंह ने फोन उठाया तो दूसरी ओर से आवाज़ आई, "थानेदार परगटसिंह, मैं लेकसाइड स्कूल का प्रधान पाठक....।"

परगटसिंह बीच में ही बोल उठे, "आप ज़रूर विजय धीमान नाम के उस लड़के के बारे में कुछ कहना चाहते होंगे।"

हेड मास्टर बोले, "विजय मेरे पास आया था, उसके दिमाग में एक बहुत ही विलक्षण ख्याल....।"

परगटसिंह ने एक बार फिर उनकी बात को बीच में काटकर पूछा, "आप इसके बारे में क्या सोचते हैं?"

"अव्यावहारिक, बचकाना ख्याल है। मगर उसने बताया कि आप उसके विचार से सहमत हैं।"

"जी हां, मैं उससे इत्तफाक रखता हूं।, मगर ऐसा हो नहीं सकता।"

"नेमीशरण कोई बहुत विशिष्ट सिपाही तो था नहीं।" हैडमास्टर बोले।

"नहीं, वह ऐसा कोई असाधारण सिपाही तो नहीं था मगर कर्त्तव्यनिष्ठ

था। वैसे भी उसे कोई तमगा वगैरह नहीं मिला था और उसे वीरनुमा सम्मान तो नहीं मिलेगा। पर मैंने उससे बुरे सिपाही देखे हैं।" परगटसिंह ने जवाब दिया।

"मैंने विजय से कह दिया है कि स्कूल की तरफ से हम नेमीशरण के शव पर पुष्प अर्पित करेंगे। परन्तु विजय इससे संतुष्ट नहीं हुआ।"

"नहीं हेड मास्टर साहब, वह लड़का इतने से संतुष्ट नहीं होगा। मगर होगा कुछ नहीं।" इतना कहकर परगटसिंह ने फोन रख दिया।

परगटसिंह को और भी कई काम निपटाने थे। किसी की पेशी के कागज़ात, किसी की ज़मानत, और भी पता नहीं क्या-क्या काम थे। सब काम करते-करते तीन बज गए। तीन बजे फोन बजने लगा – और दूसरी तरफ पुलिस प्रधान थे।

"मेरे घर पर एक लड़का बैठा है जिसे तुमने भेजा है। परगट सिंह, ये क्या मामला है? लड़का नेमीशरण के जनाज़े की बात कर रहा है परन्तु मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ रहा। वैसे भी मेरी तबियत खराब है।"

परगटसिंह ने जवाब दिया, "मैं उस लड़के को जानता हूं, सर। मैंने उससे कहा था कि वह आपसे नहीं मिल सकता लेकिन वह काफी ज़िद्दी है।"

"खैर, अब ऐसा करो। एक कार भेजो और उस लड़के को घर भिजवा दो। वह ठेठ स्कूल से यहां तक पैदल आया है। मालूम है, पूरे पांच किलोमीटर होते हैं उसके स्कूल से यहां तक!"

"मैं खुद ही गाड़ी लेकर आता हूं और उसे घर छोड़ देता हूं सर। रास्ते में उसे समझा दूंगा कि अब बहुत हो गया।"

परगटसिंह गाड़ी लेकर, प्रधान के घर गए और विजय धीमान को अपने साथ लिया। रास्ते में परगटसिंह ने विजय से कहा, "विजय वैसे तो किसी के भी पास जाना तुम्हारा अधिकार है मगर पुलिस प्रधान के पास

जाकर तुमने गलती की।"

विजय बोला, "जी हां सर। आपने मना किया था, परन्तु मेरी मां कहती है कि मैं ठीक अपने पिता की तरह अड़ियल हूं।"

"अब मैं तुम्हें घर ले जाऊंगा और तुम्हारी मां से बात करूंगा। तुम्हें कोई एतराज़ है?"

"नहीं सर। मैंने मां को समझाने की बहुत कोशिश की पर वे समझती ही नहीं। शायद आप उन्हें समझा सकें।"

"हां शायद। मैं जितना सोचता हूं उतना ही मुझे लगता है कि तुम्हारी बात सही है। पर साथ ही मुझे यह भी लगता है कि ऐसा होना असंभव है।" परगट सिंह बोले।

"क्यों असंभव है? यही तो मैं जानना चाहता हूं। यदि वीर बनने के लिए किसी को मारना या अपनी जान देना ज़रूरी है तो मैं वीर नहीं बनना चाहता।"

गाड़ी विजय के घर पहुंच चुकी थी। विजय गाड़ी से उतरकर घर की तरफ बढ़ा, पीछे-पीछे थानेदार। मां ने पुलिस की गाड़ी और थानेदार को देखा तो थोड़ी चिन्तित हो गई। पूछने लगीं, "इसने कुछ किया क्या?"

परगटसिंह बोले, "नहीं मैडम। मेरा नाम परगटसिंह है। विजय, सिपाही नेमीशरण के बारे में बात करने मेरे पास आया था। मुझे लगता है कि आपका

बेटा एक ज़बर्दस्त लड़का है। यही कहने के लिए मैं इसके साथ आया हूं।"

"क्या आपको सचमुच ऐसा लगता है?"

"आपको एक बात बताऊं श्रीमती

धीमान? विजय के दिमाग में और बहुत सारे लोगों से बेहतर विचार है। उसे लगता है कि नेमीशरण वीर था और उसे वीरोचित सम्मान मिलना चाहिए। यह नामुमकिन है और शायद थोड़ा बेतुका भी है, मगर मैं आपके बेटे से सहमत हूं. . . और सबसे अच्छी बात तो यह है कि वह अपनी बात को पूरा करने के लिए इतनी भागदौड़ कर रहा है।''

''शुक्रिया, थानेदार साहब।''

''अच्छा विजय, बेस्ट ऑफ लक।''

थानेदार के 'बेस्ट ऑफ लक' ने विजय में एक नई स्फूर्ति भर दी। इस स्फूर्ति का प्रमाण दूसरे दिन सुबह मिला जब साढ़े दस बजे थानेदार परगटसिंह का फोन बज उठा। फोन किसी और का नहीं, नगर-महापौर का था। पता चला कि महापौर खुद बात करना चाहते हैं। महापौर ने छूटते ही कहा, ''क्या तुम विजय धीमान नाम के किसी लड़के को जानते हो?''

''हे भगवान, क्या वह वहां भी...?''

''हां, वह यहां बैठा है और मेरा दिमाग चाट रहा है। तुम फौरन यहां आओ।'' महापौर थोड़ा तल्खी से बोले।

''मैं वहां आकर क्या करूंगा?''

''उस बच्चे को यहां से ले जाओ। वह तो अपने अधिकारों वगैरह की बात कर रहा है। खैर, तुम फौरन उसे उसके स्कूल पहुंचाओ जी।''

''जी, अभी आता हूं।'' इतना कहकर परगटसिंह ने फोन रख दिया और महापौर के दफ्तर पहुंचे। वहां देखा कि विजय धीमान कुर्सी पर बैठा पैर झुला रहा है, और महापौर 'दैनिक

सरे बाज़ार' देख रहे हैं। उसके मुखपृष्ठ पर आज उनके खिलाफ खबर छपी थी। थानेदार को देखते ही महापौर बोल उठे, "इस लड़के को ले जाओ और फिर से यहां मत भेजना।"

विजय ने उठते-उठते कहा, "इन्होंने मुझे नहीं भेजा है। मैं अपने आप आया हूं।" महापौर चिल्ला पड़े, "तुम बीच में मत बोलो।" फिर वे थानेदार से मुखातिब हुए, "अब इस लड़के को स्कूल ले जाओ। इसके मां-बाप को समझाओ और इसके स्कूल प्रिंसिपल को इत्तला करो। इसे तो गिरफ्तार किया जाना चाहिए।"

थानेदार ने अखबार को उठाकर लपेट लिया और बगल में दबाते हुए मासूमियत से पूछा, "किसे सर, प्रिंसिपल को?"

महापौर चिल्लाए, "दफा हो जाओ यहां से।"

थानेदार विजय को लेकर चल पड़े। बाहर आकर विजय बोला, "यहां आकर कुछ फायदा नहीं हुआ।"

थानेदार बोले, "हां कोई फायदा नहीं हुआ।"

विजय बोला, "मैंने उन्हें तीन बार बताया कि मैं क्यों आया हूं परन्तु वे समझ ही नहीं पाए। थोड़े बुद्धू लगते हैं। परन्तु अब करें क्या?"

"क्या करोगे। देखो, लोगों को यह समझाना बहुत मुश्किल है कि जो सिपाही चालीस साल तक अच्छे से अपना काम करता है, वह वीर होता है। सब लोग समझते हैं कि वीरता बन्दूक की गोलियों में होती है।" परगटसिंह ने समझाने की कोशिश की।

"तो मैं अब और कुछ नहीं कर सकता?" विजय ने चिंतित स्वर में पूछा।

"कर तो सकते हो। यदि तुम छत पर खड़े होकर चिल्लाओ तो शायद कुछ हो सकता है।"

"मैं तो इतनी ज़ोर से चिल्ला भी नहीं सकूंगा। और मेरी आवाज़ कौन सुनेगा?" विजय बोल पड़ा।

"अरे, 'छत से चिल्लाना' एक मुहावरा है। छत से चिल्लाने का मतलब है लोगों तक अपनी बात पहुंचाना। लो यह अखबार और घर चले जाओ। घर पर पढ़ना। और सुनो, अपनी बात मत छोड़ना।" परगटसिंह ने मुस्कुराकर जवाब दिया।

लड़का चल पड़ा, वह छोटा-सा लड़का जिसे भावी नागरिक कहा जाता है। उसने बीच में रुककर अखबार पर नज़र डाली। अखबार को देखते ही वह घर जाना भूल गया। घर जाने की बजाए वह दूसरी तरफ तेज़ कदमों से चलने लगा।

अगले दिन सुबह थानेदार परगटसिंह ने विजय के घर की घंटी बजाई। दरवाज़ा विजय ने ही खोला और

थानेदार को देखकर उसकी आंखें फटी-की-फटी रह गईं।

विजय की मां ने थानेदार को अन्दर बुलाया। बैठक में मेज़ पर 'दैनिक सरे बाज़ार' का ताज़ा अंक रखा था। उसके मुखपृष्ठ पर विजय का इंटरव्यू था। साथ में नेमीशरण की फोटो भी।

विजय की मां ने पूछा, "आप किसी मुश्किल में तो नहीं पड़ गए?"

"नहीं मैडम, मैं तो विजय को लेने आया हूं। मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि सिपाही नेमीशरण की शवयात्रा राजकीय सम्मान से निकलेगी। नेमीशरण को कर्त्तव्य-परायणता का पुरस्कार मरणोपरान्त दिया गया है। उसने चालीस सालों तक निष्ठापूर्वक हज़ारों बच्चों की सुरक्षा की है। चलो विजय, तुम्हें हमारे साथ चलना है।" परगटसिंह ने पूरी बात एक ही सांस में कह डाली।

"मैं यूनिफार्म पहनकर अभी चलता हूं।" विजय के चेहरे पर संतोष का भाव था।

एलरी क्वीन द्वारा संपादित संकलन "एल ऐज़ इन लूट" की एक कहानी "ए फ्युनरल फॉर पैट्रोलमैन केमरॉन" का भावानुवाद।

सुशील जोशी: पर्यावरण एवं विज्ञान लेखन में सक्रिय, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

ज़रा सिर तो खुजलाइए
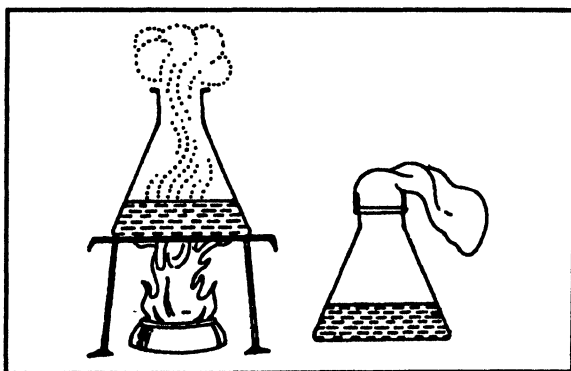
एक फ्लास्क या किसी भी संकरे मुंह के बर्तन में थोड़ा-सा पानी लेकर उसे गर्म करें। जब पानी उबलने लगे तो उसे नीचे उतार कर बर्तन के मुंह पर एक गुब्बारा फंसा दीजिए (देखिए चित्र)। और बर्तन को ठंडा होने दीजिए। देखिए क्या होता है? हमें लिख भेजिए। सही जवाबों को अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा। हमारा पता है:

संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद 461 001.

जहा चाह वहा राह

जॉन होल्ट
भावानुवादः अरविन्द गुप्ता

यह एक किताब की समीक्षा है या यूं कहें कि किताब पर टिप्पणी है – जॉन होल्ट द्वारा की गई। किताब का नाम है 'माइ कन्ट्री स्कूल डायरी'। इसे लिखा है जूलिया वेबर गॉर्डन ने। जूलिया वेबर 1930 में अमेरिका के एक अंदर के गांव में स्कूल शिक्षक थीं। वे एक बहुत लगनशील शिक्षक थीं। इस किताब में उन्होंने अपने अनुभवों को प्रस्तुत किया था।

1930 में लिखी यह किताब आज भी हमारे लिए बहुत मायने रखती है। हम गरीब, ग्रामीण और अल्पसंख्यक बच्चों की शिक्षा के नाम पर बहुत पैसा खर्च कर रहे हैं। मंशा अच्छी होने के बावजूद हम कुछ खास भला नहीं कर पा रहे हैं। अच्छे की जगह कुछ बुरा न हो जाए इस बात की संभावना अधिक है। मिस वेबर के अनुभवों से तो यही नज़र आता है।

समय-समय पर शिक्षा विभाग नवाचार के नाम पर एक नया शगूफा छोड़ता है। पुराने कार्यक्रम क्यों ठप्प हुए इसकी परवाह किसे। नया कार्यक्रम वैसे तो काफी वैज्ञानिक और समझ बूझ से बना दिखता है। इसमें शिक्षाविद् अलग-अलग तरीकों से प्रयोग करेंगे। वे शिक्षा और विकास की अलग-अलग प्रणालियां अपनाएंगे। कुछ समय बाद इन कार्यक्रमों का मूल्यांकन होगा और उनमें से एक कार्यक्रम को सरकारी तौर पर 'सफल' घोषित किया जाएगा। इसके बाद सैकड़ों स्कूलों के हज़ारों शिक्षकों को इस कार्यक्रम को लागू करने के आदेश दिए जाएंगे।

सब कुछ ठीक-ठाक होगा इस बात की संभावना बहुत कम है। हो सकता है कि हमें फिर से एक महंगी निराशा का शिकार होना पड़े। ऐसा पहले कई बार हो चुका है। क्यों? ऐसी निराशाओं से बचने का क्या कोई तरीका है?

अगर हम ईमानदारी से पिछले कार्यक्रमों की जांच करें तो हम पाएंगे कि कुछ छोटी-छोटी बातें कार्यक्रम के नतीजे पर बड़ा असर डालती हैं। कार्यक्रम की सफलता कुछ ऐसे घटकों पर निर्भर है जिन्हें बिल्कुल नज़रअंदाज़ किया गया है — प्रिंसिपल का रवैया, माता-पिता की अपेक्षाएं, एक-दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों की कमज़ोरी या ताकत, बच्चों की सीखने की क्षमता का अनुमान, ये घटक अकेले अथवा मिलकर कार्यक्रम के परिणामों पर बड़ा असर डाल सकते हैं। नए कार्यक्रम, नवीन पाठ्यक्रम और नई व्यवस्था का शिक्षा पर कुछ लाभकारी असर हो ही, यह ज़रूरी नहीं। एक गतिशील शैक्षणिक माहौल तभी पैदा होगा जब हम स्वप्रेरित शिक्षकों की मदद कर पाएंगे। जो शिक्षक आगे बढ़ने को तैयार हैं उन्हें नवाचार करने की छूट मिले और उसे अमल में लाने के लिए सहायता दी जाए। अंततः हमें ऐसे शिक्षकों की पहल और क्षमताओं पर ही विश्वास करना चाहिए। ऊपर से थोपे गए सरकारी आदेशों द्वारा शिक्षकों को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता है।

प्राथमिक विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में हमारे यहां विविध प्रकार की सामग्री है। इसमें कुछ उपकरण तो काफी अच्छे और महंगे हैं। इस सब के बावजूद स्कूलों में तब तक विज्ञान की अच्छी पढ़ाई नहीं होगी, जब तक कुछ बुनियादी परिवर्तन न हों। इसके लिए हमें बच्चों की स्वतः स्फूर्ति और उनकी क्षमताओं को प्रोत्साहित करना होगा। डंडे के डर से काम करने वाले आज्ञाकारी बच्चों से अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती है।

स्कूल में स्थाई और महत्वपूर्ण बदलाव तभी आएगा जब वह कक्षा में शिक्षकों के अपने प्रयासों द्वारा उपजा हो। जो शिक्षक स्वयं सृजनशील होते हैं और अपनी ज़िन्दगी को संपूर्णता से जीते हैं, वे ही अपने बच्चों को मौलिकता और सृजनात्मकता का सबक सिखा सकते हैं। बड़े पैमाने पर बदलाव लाने का एक ही अच्छा तरीका है — हम केवल उन शिक्षकों की सहायता करें जो आगे बढ़ने को खुद तैयार हैं। जो शिक्षक निठल्ले हैं उन पर ऊर्जा व्यय करने से कुछ लाभ न होगा। इस तरह के बदलाव के प्रसार में वे अड़चनें नहीं आतीं जो सरकारी आदेशों द्वारा लागू कार्यक्रमों में आती हैं।

किसी भी सही और स्थाई शैक्षणिक बदलाव का केन्द्र-बिन्दु शिक्षक ही हो सकता है। 'ग्रामीण स्कूल की डायरी' नामक दस्तावेज़ इस बात का सच्चा प्रमाण है। मिस वेबर को जब मौका मिला और थोड़ी मदद मिली तो वे क्या कुछ कर पाईं, यह उसी की दास्तां है। सचमुच मिस वेबर की परिस्थिति काफी कठिन और निराशाजनक थी।

वे 1930 में अमरीका के एक दूर-दराज़ के गांव में काम करती थीं। उनका स्कूल एक छोटे कमरे का ग्रामीण स्कूल था। गांव की हालत भी काफी बदहाल और खस्ता थी। धन के अभाव में अधिकतर शैक्षणिक साधन या तो बच्चों ने खुद बनाए थे, या फिर उन्हें अलग-अलग संस्थाओं से मांगकर लाया गया था।

मिस वेबर एक कमरे में कक्षा एक से लेकर आंठवीं के बच्चों को पढ़ाती थीं। उनकी क्लास में 5 साल से लेकर 16 वर्ष तक की उम्र के करीब 30 बच्चे थे। तीसरी कक्षा का एक बच्चा

न केवल पढ़ाई में कमज़ोर था बल्कि मानसिक रूप से भी पिछड़ा हुआ था। मिस वेबर ने उसकी मदद का भरसक प्रयास किया। बहुत कम शिक्षक अपनी क्लास में इतनी अलग-अलग उम्र के बच्चों के दाखिले की इजाज़त देंगे। मिस वेबर ने इस चुनौती को सहर्ष स्वीकारा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे एक कक्षा नहीं बल्कि आठों कक्षाओं को अकेले पढ़ाती थीं। मिस वेबर के लिए स्कूल का प्रत्येक बच्चा महत्वपूर्ण था। उनकी कक्षा में हरेक बच्चा सीखता था और आगे बढ़ता था।

मिस वेबर का अनुभव हमें कुछ और भी सिखाता है। अच्छी शिक्षा के लिए बड़े-विशाल और केन्द्रीय स्कूलों की ज़रूरत नहीं है। ऐसे महंगे स्कूलों का फार्मूला बड़े कारगर तरीके से हमारे ज़ेहन में घुसा दिया गया है। पूरे देश में छोटे-छोटे स्थानीय स्कूलों का लगभग खात्मा हो गया है। यही वे स्कूल थे जहां मिस वेबर जैसे शिक्षक अपने प्रयोग कर सकते थे। इन छोटे स्कूलों के बदले हमने विशालकाय फैक्ट्रियों जैसे स्कूल बनाए हैं। इन बड़े स्कूलों को केवल फौज या जेल के नियम-कानूनों के हिसाब से ही चलाया जा सकता है। स्कूलों के केन्द्रीकरण के पीछे दलील यह थी कि महंगे और उन्नत तकनीक से बने शैक्षणिक साधन और वैज्ञानिक उपकरण छोटे-छोटे स्कूलों को देना संभव नहीं है। छोटे स्कूलों में विशेषज्ञ टीचरों को नियुक्त करना भी सम्भव नहीं है। मिस वेबर ने हमें दिखाया कि पढ़ाई में रोचकता और गहराई लाने के लिए अधिक धन और विशालकाय इमारतों की आवश्यकता नहीं है। एक महीने में ही मिस वेबर और उनके छात्रों ने अपने गरीब ग्रामीण स्कूल को एक सुन्दर, संपन्न सीखने के केन्द्र में बदल डाला।

आज तो हम मिस वेबर से कहीं अधिक बेहतर करने की परिस्थिति में हैं। हम विभिन्न प्रकार के उपकरणों को बिना पैसे खर्च किए कबाड़ में से जुगाड़ सकते हैं। भौतिक विज्ञान समिति ने हमें संवेदनशील उपरकण व मीटर भी सस्ते और स्थानीय सामान से बनाना सिखाया है। विज्ञान के प्रयोगों में लगने वाले सामान की एक बीस पन्ने की सूची तैयार की गई थी। इस सूची में दर्ज लगभग आधे सामान को मुफ्त में इकट्ठा किया जा सकता है। एक बड़े शहर की सबसे गरीब बस्ती में मैंने 'लर्निंग लेबोरेटरी' देखी। यहां कूड़े-करकट के ढेर में से तमाम रोचक सामान इकट्ठा किया गया था। अगर हमें कुछ महंगे सामान और उपकरणों की ज़रूरत हो भी तो उनके लिए हम ऐसा केन्द्र खोल सकते हैं जहां से बच्चे उन्हें उधार ला सकें। जिस तरह से कुछ चलित पुस्तकालय स्कूल-दर-स्कूल जाते हैं, उसी तरह से चलित प्रयोग-शालाएं भी छोटे स्कूलों में भेजी जा सकती हैं।

मिस वेबर ने एक रोचक सीखने का माहौल रचा। यह सब उन्होंनें बहुत विषम परिस्थितियों में किया। आज हमें ऐसा करने के लिए बहुत सहायता मिल सकती है। जब उन्हें या उनके बच्चों को किसी पुस्तक अथवा किसी उपकरण की आवश्यकता पड़ती, तो सबसे पहले वे यह मालूम करते कि वह वस्तु किस व्यक्ति के पास है, और फिर उससे उधार मांग लाते। उन्होंने अन्य स्कूल-कॉलेजों के साथ-साथ, कृषि प्रायोगिक केन्द्र और अन्य स्थानीय संस्थाओं से भी चीज़ें मांगी। गांव के एक अनुभवी बढ़ई ने बच्चों को गुड्डे-गुड्डियों के घर बनाना सिखाया। एक वर्ष में मिस वेबर के लगभग 30 बच्चों ने स्थानीय पुस्तकालय से 700 किताबें लेकर पढ़ीं। 'फैन्सी स्कूलों' के पुस्तकालयों को इस तरह के पाठक कम ही मिलते होंगे। अधिकतर पुस्तकालयों में इतने नियम-कानून और इतनी रोक-टोक होती है कि बच्चे उनका उपयोग ही नहीं कर पाते।

शिक्षा में हम हमेशा पैसे के अभाव का रोना ही रोते रहते हैं। कुछ और पैसा मिलने से हमें अवश्य कुछ आसानी होती। परन्तु मिस वेबर के जैसे अच्छे स्कूलों में औसत स्कूल से कहीं कम खर्चा आता है। पैसों का दुरुपयोग हम कब रोकेंगे? हम आलीशान इमारतों और अनुत्पादक शिक्षा-व्यवस्था पर पैसा फूंकते हैं। हम विशेषज्ञों और महंगे उपकरणों पर — जिनकी आवश्यकता ही नहीं है — पैसा खर्च करते हैं। उबाऊ पुस्तकों की छपाई पर सैकड़ों टन कागज़ और पैसा बरबाद होता है। अगर हम लोग समझदारी से खर्च करें तो हम भी मिस वेबर की तरह अपनी कक्षाओं में सीखने का माहौल कहीं बेहतर बना सकते हैं। अगर हम पैसों का समुचित उपयोग करेंगे तो स्थानीय लोग भी हमारी सहायता करेंगे।

'माई कंट्री स्कूल डायरी' में एक और महत्वपूर्ण सबक है। बच्चों का सही विकास तभी होता है जब वे सभी उम्र के लोगों के साथ मिलते-जुलते हैं। इस तरह बच्चों को अपने समुदाय के बारे में सोचने-समझने का मौका मिलता है। जब स्कूल की पढ़ाई समुदाय की ज़िन्दगी को छूती है और स्कूल के बाहर लोगों की समस्याओं को सुलझाती है तभी वह असली सीख बनती है। मिस वेबर का स्कूल वास्तविक दुनिया का एक अभिन्न अंग था। वहां बच्चे एक कृत्रिम पाठ्यक्रम की बजाए ज़िन्दगी की असली उलझनों से जूझते। मिस वेबर ने यह सब कुछ कहां से सीखा? क्या वे उन मुट्ठी भर लोगों में से एक थीं जिन्होंने सही मायने में अमरीकी शिक्षाविद् 'जॉन डुई' को समझा था? क्या यह सब मिस वेबर की अपनी सोच पर आधारित था? फिलहाल, उनके स्कूलों में बहुत से बच्चे आए और हरेक के दिल में स्कूल ने एक अमिट छाप छोड़ी।

मिस वेबर के स्कूल का बच्चों के जीवन और उनके समुदाय पर क्या असर पड़ा इसका हम सिर्फ अनुमान ही लगा सकते हैं। इस पुस्तक को पढ़कर मुझे 'इलियट शैपिरो' की याद आती है। उन्होंने इसके कई वर्ष बाद 'हारलेम' नाम की एक गरीब बस्ती में काम किया। उन्होंने हारलेम के प्राथमिक स्कूल को बस्ती का सामुदायिक केन्द्र बनाकर उसमें नई जान फूंकी। यहां पर बस्ती की तमाम समस्याओं पर चर्चा होती और उनके हल खोजे जाते।

समुदाय उन्मुखी स्कूलों और शिक्षकों के कम होने के साथ-साथ स्कूलों के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसके परिणाम स्वरूप स्कूल और समुदाय के बीच का रिश्ता टूटा है। उजड़े गांवों में समुदाय का पुनर्निर्माण आज का सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य है। इससे लोगों का आत्मविश्वास जागेगा। लोग सोचेंगे 'मैं हूं। यह मेरी

संदेश हैं।

कुछ लोगों का कहना है 'पढ़ाना एक कला है जिसमें तमाम तकनीकें हैं। विषय-वस्तु जानने के बावजूद जब तक शिक्षक को पढ़ाने की कुशलता नहीं आती, तब तक वह पढ़ा नहीं सकता।' अन्य लोगों के अनुसार 'तकनीकों में क्या धरा है। कोई भी समझदार व्यक्ति इन्हें जल्द ही सीख सकता है। ज़रूरी यह है कि शिक्षक को अपने विषय का अच्छा ज्ञान हो।' इस तरह 'तकनीक' समर्थक और 'जानू' समर्थक आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। मेरी राय में दोनों ही असली बिन्दु को खो बैठे हैं। दक्षता — चीज़ों को कर पाने की क्षमता ही बच्चों को बड़ों की ओर आकर्षित करती है। मिस वेबर असाधारण गुणों से लैस

जगह है। यहां जो कुछ होगा मेरी राय से होगा। मैं इसमें मदद दे सकता हूं और अन्य लोगों की सहायता ले सकता हूं। मैं इसे ज़िन्दगी जीने की एक बेहतर जगह बनाऊंगा।' इस प्रकार की सामुदायिक भावना जगाने के लिए मिस वेबर जैसे स्कूलों का होना अनिवार्य होगा।

मिस वेबर की पुस्तक में टीचर ट्रेनिंग को लेकर भी कुछ महत्वपूर्ण

थीं। वे बहुत सारे गुर और हुनर जानती थीं। वे तरह-तरह की चीज़ें बनाने में बच्चों की मदद करतीं। वे किसी एक विषय की विशेषज्ञ न थीं, परन्तु वे हर विषय में बच्चों की रुचि जगाने लायक जानकारी अवश्य रखती थीं। जब बच्चों का किसी विषय में कौतूहल जाग उठता और वे काम में लग जाते, तो उनकी भरसक मदद करतीं।

जो कुछ मिस वेबर जानती थीं अगर उसकी सूची बनाई जाए तो वह बहुत लम्बी होगी। वे हारमोनिका और पियानो जैसे वाद्य-यंत्र बजातीं, लोक-नृत्य करतीं, गाने गातीं, बच्चों के खेलघर डिज़ाइन करतीं, कठपुतलियां बनातीं-नचातीं, तरह-तरह के खेल खेलतीं खासकर ऐसे सस्ते खेल जिन्हें सभी उम्र के बच्चे सीमित जगह में खेल सकें। वे कागज़ की फिरकी बनातीं और चित्रकारी करतीं। वे विभिन्न पेड़-पौधों को पहचान सकती थीं। वे क्यारियों में फूल उगातीं और 'रॉक' गार्डन बनातीं। वे भू-विज्ञान की कुछ जानकारी भी रखती थीं और आस-पास के पत्थरों की पहचान कर सकती थीं। वे पौराणिक किस्से कहानियां जानती थीं। वे सिलाई-कढ़ाई और खाना तो पकाती ही थीं, साथ-साथ नमक के क्रिस्टल भी बनातीं। वे पुराने चिथड़ों को बुनकर गमलों के हैंगर बनातीं। वे गुड़िया घर का फर्नीचर, मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनातीं। वे जानवरों के पद चिन्हों के प्लास्टर-कास्ट बनातीं। वे तकली पर सूत काततीं और खड्डी पर कपड़ा बुनतीं। इसके अलावा भी वे और बहुत कुछ कर सकती थीं।

बच्चों के साथ काम करने वाले लोगों को इस तरह की तमाम कुशलताएं आनी चाहिए। यह ज़रूरी नहीं कि सभी लोगों को एक जैसे हुनर आएं। मेरी अपनी सूची, जो मिस वेबर की तुलना में कहीं छोटी है, एकदम भिन्न है। पर अच्छी बात यह है कि मैं जो पहले कर पाता था अब उससे कुछ अधिक कर पाता हूं। समय के साथ-साथ मेरी कुशलताओं की सूची भी बढ़ेगी। महत्व की बात यह है कि मैं बच्चों के साथ-साथ नई चीज़ों को सीखने का इच्छुक हूं। मैं किसी भी कुशल व्यक्ति से नए हुनर सीखने को आतुर हूं। अगर मैं किसी काम को बहुत अच्छी तरह नहीं भी कर पाता हूं तो भी मुझे उससे डर नहीं लगता। अहम बात तो यह है कि व्यक्ति काम में लगा रहे।

कल ही मुझे एक नौजवान युवक मिला जो बॉस्टन के एक स्कूल में पढ़ाना चाहता है। प्रगतिशील स्कूल बच्चों को सीखने की अधिक छूट प्रदान करता है। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारी विशेष रुचियां क्या हैं? तुम बच्चों को क्या हुनर सिखा सकते हो? क्या तुम कोई खिलौना बना सकते हो?"

मेरे प्रश्न से यह नवयुवक थोड़ी उलझन में पड़ गया। मैंने कहा, "क्या तुम गाना गा सकते हो, कोई बाजा बजा सकते हो, अथवा कोई विदेशी भाषा सिखा सकते हो?" उसका उत्तर 'न' में था। मैंने उसे आश्वस्त किया कि उसका किसी खास कुशलता में विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं है। परन्तु उसका पक्का मानना था कि वह कुछ नहीं कर पाएगा। उसकी मंशा अच्छी थी परन्तु उसके पास केवल कुछ किताबी ज्ञान था। यह बहुत दुख की बात है कि शिक्षक के पेशे में लगे तमाम लोग पढ़ाने के अलावा कुछ और नहीं कर सकते हैं। मिस वेबर बहुत-सी कुशलताओं से सम्पन्न थीं। साथ-साथ दुनिया की तमाम बातों को समझने में उनकी रुचि थी। जो शिक्षक केवल स्कूल और कक्षा को ही जानते हैं वे भला बच्चों को दुनिया के बारे में कैसे पढ़ा पाएंगे?

मिस वेबर ने पाया कि बच्चों को क्लास की अपेक्षा जंगल में पिकनिक, समुद्र तट की सैर आदि में कहीं अधिक

मज़ा आता है। मिस वेबर के स्कूल में बच्चे जो प्रश्न पूछते, उन्हीं पर आगे खोजबीन और पढ़ाई होती थी। बच्चे अपने आसपास की दुनिया को समझना चाहते थे। यही चाह उन्हें उत्तर और हल खोजने के लिए प्रेरित करती। मिस वेबर बच्चों की रुचियों और सोच के अनुरूप ही पाठ्यक्रम बनातीं। वे बच्चों को अनेकों सुझाव और विकल्प देतीं। अधिकतर सुझावों को बच्चे 'रिजेक्ट' कर देते। परन्तु कुछ बच्चों को पसन्द आ जाते और उन्हें वह अपना लेते। इस कारण मिस वेबर साल-दर-साल वही उबाऊ पाठ्यक्रम पढ़ाने से बच जातीं।

जॉन होल्टः दुनिया के प्रसिद्ध शिक्षाविद्। होल्ट सारी ज़िंदगी एक ऐसे स्कूल की तलाश में रहे जहां बच्चों की प्राकृतिक प्रतिभाओं को फलने-फूलने का मौका मिलता हो। 1975 में होल्ट स्कूल में बदलाव लाने की बजाए 'स्कूल बंद करो' के पक्षधर हो गए। उन्होंने कई किताबें लिखीं। 14 दिसंबर 1985 को जॉन होल्ट का देहांत हो गया। *(जॉन होल्ट की जीवनी संदर्भ के दसवें अंक में प्रकाशित।)*

अरविंद गुप्ताः स्वतंत्र लेखन ; नई दिल्ली में रहते हैं।

इस बार का सवाल

सवालः इन्द्रधनुष, धनुष के आकार का ही क्यों होता है, सीधा या तिरछा क्यों नहीं होता?

राजकुमार, कक्षा आठवीं
द्वारा, मिश्रीलाल ओनकर
छिपानेर रोड, हरदा
ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.

इन्द्रधनुष को प्रायः हम सबने देखा है। आप में से कुछ तो यह जानते ही होंगे कि इंद्रधनुष क्यों बनता है। तो देर किस बात की, थोड़ी खोजबीन कीजिए और अपने जवाब हमें लिख भेजिए। हमारा पता हैः संदर्भ द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद, म. प्र. 461001.

चींटी का शिकार. . .

शिकार को फंसाने के लिए शिकारी ने जाल बिछाया. . . लेकिन ये किसी कहानी का वाक्य नहीं बल्कि हकीकत है जनाब। इस जाल को तो पहले भी कई बार देख चुके थे लेकिन शिकारी के बारे में सिवाय पढ़ने के अभी तक कुछ नहीं किया था। तो सोचा क्यूं न इस बार इन महोदय से मिल ही लिया जाए। . . .और इनकी खोज में हमें जाना पड़ा ऐसी ज़मीन की तलाश में जो भुरभुरी हो, थोड़ी रेतीली हो और जहां इंसानों या मवेशियों की आवाजाही कम हो।

अब चलिए रहस्य की घटा को हटा ही देते हैं. . .शिकारी है – चींटीखोर, कहीं इन्हें ऊंट, कहीं भंवरी तो कहीं चींटी-शेर के नाम से भी पुकारा जाता है। और जैसा कि नाम से स्पष्ट है शिकार है चींटी। लेकिन शिकार करने के लिए ये इसके पीछे-पीछे नहीं भागते बल्कि जाल बिछाकर बड़े आराम से उसके फंसने का इंतज़ार करते हैं।

हो सकता है कि कहीं आपने भी ज़मीन में बने शंकुनुमा छोटे-छोटे गड्ढों को देखा हो। जिन्हें देखकर तुरंत यह लगता है कि किसी ने बड़े जतन से इन्हें बनाया है। कई बार तो दो-तीन फुट ज़मीन के दायरे में दस-बारह ऐसे गड्ढे देखने को मिल जाते हैं।

चींटीखोर के मुंह के पास दो डंकनुमा रचनाएं दिख रही हैं। इनसे यह शिकार भी पकड़ता है और गड्ढा भी खोदता है। हमने जैसे ही चींटीखोर को पकड़कर मिट्टी से भरे कांच के बर्तन में छोड़ा ये तुरंत मिट्टी के अंदर घुस गया। थोड़ी देर बाद लगा कि कोई मिट्टी हवा में फेंक रहा है। ध्यान से देखा तो पाया कि डंकनुमा बेलचे से मिट्टी फेंकने का काम ये महाशय कर रहे हैं। सिर्फ डंकनुमा हिस्सा थोड़ा-सा बाहर निकला हुआ दिखता है और बाकी पूरा शरीर मिट्टी में गुम। थोड़ी देर में ये गड्ढा शंकुनुमा, और गहरा हो जाता है, करीब एक से डेढ़ इंच।

जैसे ही कोई चींटी इस गड्ढे के किनारे पर पहुंचती है संतुलन खोकर नीचे की ओर फिसलने लगती है, क्योंकि दीवार की मिट्टी बहुत ढीली होती है। और चींटी उस पर अपनी पकड़ नहीं बना पाती।

और रही सही कसर नीचे मिट्टी में धंस कर बैठा चींटीखोर पूरी कर देता है। जैसे ही कोई छोटा जीव नीचे गिरता है ये अपने बेलचे से उस पर मिट्टी फेंकना शुरू कर देता है। और हड़बड़ा कर जब जीव नीचे गिरता है ये उसे अपने डंकों के बीच फंसा लेता है। जब उसे पूरी तरह चूस लिया तो बेलचे की मदद से उसे ऊपर फेंक दिया।

दरअसल यह चींटीखोर एक उड़ने वाले कीट की लार्वा अवस्था है। जब ये वयस्क होगा तो उसके पंख आ जाएंगे और ये उड़ जाएगा। लेकिन तब तक तो इसे यूं ही फंदा बनाकर शिकार फंसाना है।

1.
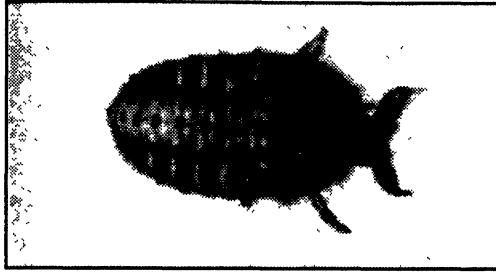
2.
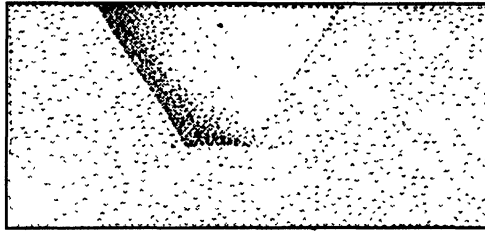
3.
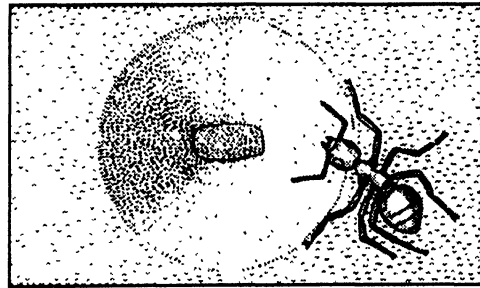
शिकारी का फंदा: 1. शेर चींटी (Myrmeleon alternatus), 2. ज़मीन में उसके द्वारा बनाया गया शंकुनुमा गड्ढा, 3. गड्ढे के बाहर मंडराती चींटी।

यह चींटी खोर एक उड़ने वाले कीट का लार्वा है। इसके आगे जो डंकनुमा बेलचे जैसी रचना दिख रही है यह इससे मिट्टी खोदकर शंकुनुमा गड्ढा बनाता है। और नीचे मिट्टी में धंसकर बैठ जाता है। जैसे ही कोई चींटी इस गड्ढे में गिरती है वो ऊपर चढ़ने की कोशिश करती है। लेकिन इस शंकुनुमा गड्ढे की दीवारें इतनी ढीली होती हैं कि वो बार-बार खिसक-खिसक कर नीचे ही जाती है। रही-सही कसर चींटी खोर ऊपर चढ़ने की कोशिश में लगी चींटी पर मिट्टी फेंक-फेंक कर पूरी कर देता है। और जैसे ही चींटी नीचे गिरती है ये उसे अपने डंकों के बीच दबोच लेता है।